।कंतु कहता हूँ कर साहस। मनमें धरके मैं एक आस।
आपके सम्मुख कर साहस। प्रिय बनूं आपके ॥ २३ ॥
अजी! शीतल जो चंद्रमासे। जीवनदायी है अमृतसे।
पूर्ण करता अवधानसे। मेरी चाह ॥ २४ ॥

अजी! कृपा-दृष्टिकी वृष्टि आपकी। करती है सृष्टि सकलार्थ मतिकी।
सूखेगी कली अंकुरीत मतिकी। आपकी उदासीसे ॥ २५ ॥

देते हैं आप सहज अवधान। मिलता उससे वक्तृत्वको अन्न।
जिससे होते हैं अक्षर संपन्न। सिद्धान्तोंसे ॥ २६ ॥

राह देखता तब अर्थ शब्दकी। सृष्टी होती नव-नव आशयकी।
बहार आती है भाव सुमनोंकी। मति पर सतत ॥ २७ ॥

रहता है जहां संवादका उल्लास। बरसता स्वारस्वत हृदयाकाश।
सूखता है वह सारस्वतका रस। जहां श्रोता हो दुश्चित्त ॥ २८ ॥

अजी! चंद्रकान्त मणि द्रवता। वह द्रावकता चंद्र ही देता।
वैसा वक्ता वक्ता नहीं हो सकता। बिन श्रोताके ॥ २९ ॥

हमें अब मधुर कर लेना। ऐसा क्या तंदुलोंको है कहना।
या गुड़ियाको प्रार्थना करना। सूत्र धारसे क्या ॥ ३० ॥

वह क्या गुड़ियाके लिये नचाता। या अपना कला-ज्ञान है बढ़ता।
इसीलिए हमारा क्या आता जाता। इस झमेलेसे ॥ ३१ ॥

"अरे क्या हुआ पूछा तब श्रीगुरुने। कहा "तुम्हारा विनय सुना हमने।"
"कहो अब क्या कहा श्री नारायणने। धनंजयसे ॥ ३२ ॥

संतोषसे निवृत्तिका दास। "जी! जी!!" कह कर स-उल्लास।
बोले किया यह उपदेश। श्री कृष्णने तब ॥ ३३ ॥

भगवान उवाच
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्री भगवानने कहा

कहूंगा गुह्य जो श्रेष्ठ निष्पाप तुझसे अब।
विज्ञान सह जो ज्ञान छुडाता दोषसे बडे ॥ १ ॥

सरल बुद्धिके जिज्ञासुके सम्मुख गुह्यका उद्घाटन—

अथवा जो है यह बीज। कहता हूँ मैं तुझे आज।
मेरे हृदयका है गुज। जीवनका पार्थ ॥ ३४ ॥

हृदयका गूढ़ क्यों ऐसा खोलना। वह गूढ़ भी मुझसे क्यों कहना।
आती ऐसी यदि मनमें कल्पना। है वह स्वाभाविक ॥ ३५ ॥

तो तू सुन ले हे प्राज्ञ। तू है आस्थाकी ही संज्ञा।
कहीं बातकी अवज्ञा। जानता नहीं ॥ ३६ ॥

टूटा तब आपना गूढ़पन। कहें न कहने जैसे वचन।
किंतु अपना जो अन्तःकरण। उतरे तुझमें ॥ ३७ ॥

अजी! स्तनमें क्षीर गुप्त होता। स्तनको क्यों मधुर नहीं होता।
आत्मीय मिलता तब स्रवता। सहज-भावसे ॥ ३८ ॥

खत्तीमेंसे बीज निकाला। जोती हुई भूमिमें डाला।
"व्यर्थ गया वह" ऐसा भला। कह सकते क्या? ॥ ३९ ॥

जब सुमन औ, शुद्ध मति। अनिंदक जो अन्यन-गति।
गूढ़ बात भी उसके प्रति। सुखसे कहना ॥ ४० ॥

इन गुणोंसे संपन्न अब। बिना तेरे कोई नहीं तब।
तुझसे अपना गुह्य सब। नहीं छिपाता ॥ ४१ ॥

गुरु-मुखसे श्रवण करनेके बादही पवित्र ज्ञानका अनुभव—

गूढ़ कहनेसे पुनः पुन। चमत्कृत होगा तेरा मन।
अब कहूँगा ज्ञान-विज्ञान। सहज-भावसे ॥ ४२ ॥

सत्य-असत्य सन जाने पर। उसका यथार्थ चुनाव कर।
निकालना जैसे परख कर। कहूँगा मैं वैसे ॥ ४२ ॥

अपनी चोंचकी संडसीसे जैसे। विभेदता हंस नीर क्षीर वैसे।
कहूँगा ज्ञान-विज्ञान तुझसे। रहस्य मैं आज ॥ ४४ ॥

अनाजसे सना हुआ भूसा। हवासे उड़ाकर जैसा।
धानका ढ़ेर होता है आपसा। वैसे ही पार्थ ॥ ४५ ॥

अजी ! जानकारको वह ज्ञान । भवको करके भवमें लीन ।
देता मोक्ष-लक्ष्मीका सिंहासन । मोक्षार्थीको ॥ ४६ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

ज्ञान जो विद्याओंके ग्राममें । गुरुत्वसे आचार्य-पदमें ।
सकल गुह्यके स्वामित्वमें । पवित्रम है ॥ ४७ ॥

तथा धर्मका जो निज-धाम । वैसे ही उत्तमका उत्तम ।
पानेसे जिसे नहीं है काम । जन्मांतरका ॥ ४८ ॥

दीखा अल्पसा गुरु-मुखसे उदित । तथा हृदयमें स्वयमेव स्थित ।
प्रत्यक्ष रूपमें होता है अनुभूत । अपने आप ॥ ४९ ॥

सुखकी पावरीसे हो उत्थान । जिससे करना होता मिलन ।
होनेसे अजी ! उससे मिलन । मिटता है भोग ॥ ५० ॥

किंतु भोगके इस तीर । चित्त खडा सुखसे भर ।
वैसे सुलभ औ' सुन्दर । तथा पर-ब्रह्म ॥ ५१ ॥

इसकी है एक महत्ता । पाने पर कभी नहीं खो जाता ।
अनुभवनेसे नहीं घटता । औ' बिगड़ता नहीं ॥ ५२ ॥

अर्जुन ! तू है तर्क-कुशल । यहां होकरके शंकाकुल ।
ऐसी वस्तु लोगोंमें कुशल । रही कैसे जी ॥ ५३ ॥

वृद्धिके लिए एकोत्तरकी । गोदमें जाते जलती ज्वालाकी ।
वे क्या अनायाससे सु-सुखकी । छोड़ेंगे क्या माधुरी ॥ ५४ ॥

किंतु पवित्र तथा रम्य । वैसे सुखोपायसे गम्य ।
तथा स्वसुख परंतु धर्म्य । अपनेमें ही मिलता ॥ ५५ ॥

मूर्ख लोग हृदयको छोडकर बाहरी सुखके पीछे पडते हैं —

सब प्रकारसे ऐसा सुखकर । किंतु लोक सेवनसे बचकर ।
भ्रमका कारण यह धनुर्धर । रहा वह तज तू ॥ ५६ ॥

राज-विद्या महा गुह्य उत्तमोत्तम पावन ।
प्रत्यक्ष बोध-दाता जो धर्म-सार सनातन ॥ २ ॥

अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

देख तू दूध पवित्र तथा मधुर । पास ही है त्वचाके पदरके पार ।
किंतु किलनी सदा उसे छोड़कर । चूसती रक्त-मात्र ॥ ५७ ॥

या कमलकंद औ' दादुर । रहते हैं सदा एक घर ।
किंतु पराग खाता भ्रमर । दूसरा कीचड़ ॥ ५८ ॥

अथवा अभागीके परिवारमें । गड़ी स्वर्ण मुद्रा पड़ी सहस्रमें ।
किंतु भूखे मरते हैं दारिद्र्यमें । बैठकर पार्थ ॥ ५९ ॥

वैसे हृदयमें बसा है राम । सकलैश्वर्य सुखका आराम ।
किंतु भ्रांतका है सदा काम । विषयका ही ॥ ६० ॥

दूर देख करके मृगजल । आधा निगला अमृत उगल ।
शुक्ता लाभार्थ डाला निकाल । गलेका पारसमणि ॥ ६१ ॥

मैं सर्वत्र हूं, यह विश्व मेरा ही विस्तार है—

अहं ममतामें जो व्यस्त । मुझे नहीं पाते हैं त्रस्त ।
जन्म मृत्यु प्रवाह ग्रस्त । रहते पार्थ ॥ ६२ ॥

नहीं तो मैं रहता हूँ कैसा । सम्मुख भानु-बिंब हूँ ऐसा ।
कभी वह उदयअस्त-सा । किंतु मैं हूँ सतत ॥ ७३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

नाम है मेरे विस्तारका । जान तू संपूर्ण जगतका ।
जैसा दही होता है दूधका । सहज जमकर ॥ ६४ ॥

जैसा बीजका वृक्ष बनता । या सोनेका गहना बनता ।
वैसा है मेरा विस्तार होता । जगतके रूपमें ॥ ६५ ॥

लोग नास्तिक जो धर्म अश्रद्धासे न चाहते ।
मृत्यूकी चलते राह भवमें मुझ छोड़के ॥ ३ ॥
अव्यक्त रूपसे मैंने घेरा है जगको सब ।
मुझमें रहते भूत उनमें मैं नहीं रहा ॥ ४ ॥

यह अव्यक्त जो जमा हुआ। वही विश्वाकार पिघला हुआ।
अमूर्त मूर्तमें मैं फैला हुआ। त्रैलोक्य रूपमें ॥ ६६ ॥

महतत्वसे शरीर तक। यहांके भूत जो हैं अशेष।
मुझमें भास होते सम्यक। पानी पर झागसा ॥ ६७ ॥

जैसे झागमें न दीखता नीर। स्वप्नकी विविधता धनुर्धर।
नहीं दीखती जैसे जगकर। वैसे ही जान ॥ ६८ ॥

भास होते हैं भूत मुझमें। किंतु मैं नहीं जान उनमें।
कही है पहले सातवेंमें। तुझे यह बात ॥ ६९ ॥

कही हुई बातका तब। विचार रहने दो अब।
तेरा ध्यान मुझमें अब। पैठने दो ॥ ७० ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

हमारा भाव जो प्रकृति अतीत। देखने लगो तो कल्पना रहित।
मुझमें सभी भूत हैं यह व्यर्थ। सब मैं होनेसे ॥ ७१ ॥

संकल्पके संध्याकालमें जैसे। बुद्धि चक्षु मंद होते तमसे।
तब अखंडित किंतु अस्पष्टसे। दीखते भूत भिन्न हैं ॥ ७१ ॥

होता जब संकल्प-संध्या लोप। तब अखंडित ही है स्वरूप।
संदेह जाते जैसे होता लोप। मालाका सर्पपन ॥ ७३ ॥

मेरे शुद्ध रूपमें कल्पनासे विश्व उत्पन्न होता है

भूमिमेंसे क्या अपने आप। अंकुरते मटकोंके रूप।
जैसे कुलाल मतिके छाप। अंकुरते सब ॥ ७४ ॥

है क्या सागरका पानी। बनी तरंगोंकी खानी।
है अवांतर करनी। वायुकी वह ॥ ७५ ॥

है क्या कपासका उदर। कपड़ेका बना आगर।
ओढ़ण्याको है मनोहर। बना कपड़ा ॥ ७६ ॥

या नहीं मुझमें भूत देख तू दिव्य योग जो।
सृजता पालता भूत उनमें रहता नहीं ॥ ५ ॥

होने पर स्वर्णके अलंकार। स्वर्णत्वमें नहीं आता अंतर।
नाना रूप उसके मनोहर। भूषितकी दृष्टिसे ॥ ७७ ॥
अजी! प्रतिध्वनिका प्रत्युत्तर। या क्या प्रतिबिंबका आविष्कार।
होता जो प्रति रूप ही आखर। या स्वयं भिन्न वस्तु ॥ ७८ ॥
वैसे है मेरा निर्मल स्वरूप। उसपे होता भूत-भावना आरोप।
जिसका भासता है संकल्प। कल्पना रूप ॥ ७९ ॥
मिटती जब प्रकृति कल्पित। भूताभास नहीं रहता पार्थ।
फिर शुद्ध स्वरूप अखंडित। रहता मेरा ॥ ८० ॥
जब है सिर चक्कर खा जाता। तब भासता है विश्व फिरता।
अपनी कल्पनासे भास होता। भूतोंका अखंडमें ॥ ८१ ॥
वही तू कल्पना छोड़कर देख। मैं भूतोंमें भूत मुझमें अनेक।
स्वप्नोंमें भी नहीं होगा सविवेक। विचारने योग्य ॥ ८२ ॥
भूतोंको करता मैं धारण। या भूतोंमें है मेरा जीवन।
संकल्प सन्निपात कारण। होती ये बातें ॥ ८३ ॥
इसलिए सुन तू प्रियोत्तम। ऐसा मैं विश्वाका हूँ विश्वात्म।
जो हो इस झूठे भूत-ग्राम। आश्रयदाता ॥ ८४ ॥
लेकर जैसे रवि-रश्मिका आधार। मृग-जल मिथ्या भासता भूमि पर।
वैसा जान भास भूतोंका मुझ पर। और मुझे सत्य ॥ ८५ ॥
ऐसा हूँ मैं भूत-भावन। औ' सब भूतोंसे अभिन्न।
जैसे भानु-रश्मि अभिन्न। होते हैं पार्थ ॥ ८६ ॥
यह है ऐश्वर्य-योग हमारा। देखा न तूने भला धनुर्धरा।
इसमें है क्या कह तू आसरा। भूत भेदका ॥ ८७ ॥
इसलिए भूत मुझसे। न है भिन्न किसी रूपसे।
अथवा हूँ भिन्न भूतोंसे। मैं यह नहीं मानता ॥ ८८ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

आकाशमें महा-वायु रहे सर्वत्र हो सदा।
मुझमें हैं सभी भूत रहते जान तू यह ॥ ६ ॥

अजी ! आकाश होता जितना जैसा । पवन होता उतना ही औ' वैसा ।
हिलानेसे भास होता भिन्न ऐसा । नहीं तो उतना ही ॥ ८९ ॥

वैसे भूत मात्र मुझमें । भास होते हैं कल्पनामें ।
नहीं होता निर्विकल्पमें । वहां मैं ही सर्वत्र ॥ ९० ॥

नहीं औ' है यह कल्पनाका औरस । कल्पना लोपसे होता है वह भ्रंश ।
कल्पनाके संग होता है भूताभास । पांडुकुमार ॥ ९१ ॥

मिटती है जब कल्पना मूलतः । तब वहां है या नहीं यह जाता ।
इसलिये तू आगे यह देखता । ऐश्वर्य योग ॥ ९२ ॥

ऐसा है यह प्रति-बोध सागर । अपनेको कर उसकी लहर ।
तब तू देखेगा सब स-चराचर । आप ही है ॥ ९३ ॥

ज्ञान-जागृति अब अर्जुन । हुई न यह पूछते कृष्ण ।
अब तो भंग हो द्वैत-स्वप्न । है जो मिथ्या ॥ ९४ ॥

फिर तुझे यदि शायद । आएगी कल्पनाकी नींद ।
मिटेगा अभेदका बोध । पड़ेगा स्वप्न ॥ ९५ ॥

जिससे टूटेगा निद्राका पथ । उद्‌बोध-रूप हो आप पार्थ ।
कहता अब ऐसा गुपित । खोल करके ॥ ९६ ॥

इंद्रियोंके अंतर्मुख होनेसे ईश्वरका अनुभव आता है—

तब हे धनुर्धर स-धैर्य । अवधान दे तू धनंजय ।
सब भूतोंको है यह माया । करती हरनी जो ॥ ९७ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

जिसका नाम ही प्रकृति है । तुझसे जो द्विविध कही है ।
एक अष्ठधा भेदयुत है । दूसरी जीव रूप ॥ ९८ ॥

मेरी प्रकृतिमें सोते भूत कल्पांतमें सभी ।
जगाता सबको मैं ही कल्प-आरंभमें स्वयं ॥ ७ ॥

यह प्रकृति विषय संपूर्ण । सुना तूने पहले अर्जुन ।
इसीलिए कहता हूं सुन । अगली बात ॥ ९९ ॥

यह है मेरी प्रकृति । महा कल्पांतमें होती ।
ऐक्य-लीन भूत-जाति । मुझ अव्यक्तमें ॥ १०० ॥

ग्रीष्मके प्रखर तापमें । बीज सह दूभ भूमिमें ।
ऐक्य होती पूर्ण रूपमें । धनुर्धर ॥ १ ॥

या वर्षा आडंबर मिटता । शरदका परदा खुलता ।
जैसे घन-जात लय होता । गगनका गगनमें ॥ २ ॥

अथवा आकाशका घर । नीरमें तरंग सुंदर ।
लोपता वायु औ' आकार । वैसे ही ॥ ३ ॥

तथा जागते ही जैसा स्वप्न । मनके मनमें होता लीन ।
प्राकृत प्रकृतिमें ही लीन । कल्पक्षयमें ॥ ४ ॥

जब फिर कल्पारंभ होता । कहते हैं मैं सृष्टि सृजता ।
इस विषयमें मैं कहता । सुन तू पार्थ ॥ ५ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

तब है यह जो प्रकृति । करती सहज स्वीकृति ।
तंतु समवाय दीखती । पटमें बुनायी जैसे ॥ ६ ॥

लेकर उस बुनायीका आधार । भरते वस्त्र बन छोटे चौकोर ।
प्रकृति पंचात्मक आकार । लेती है वैसे ॥ ७ ॥

लेकर जामूनका आधार । दूध लेता दहीका आकार ।
वैसे प्रकृति रूप सुंदर । लेती है सृष्टिका ॥ ८ ॥

बीज होता पानीके नजदीक । औ' वही होता शाखोपशाख ।
वैसा मेरा ही कारण देख । भूत जातका यह ॥ ९ ॥

प्रकृति हाथमें लेके जगाता मैं पुनः पुनः ।
भूतोंका संघ संपूर्ण प्रकृतिके अधीन जो ॥ ८ ॥

अजी ! राजाने बसाया नगर । सच कहनेका यह प्रकार ।
थक गया क्या राजाका शरीर । नगर बसाके ॥ ११० ॥

मैं प्रकृति-अधिष्ठान कैसे । कोई स्वप्नमें रहता वैसे ।
फिर वही प्रवेशता जैसे । जागृतावस्थामें ॥ ११ ॥

स्वप्नसे जागृतिमें आते । उसके क्या पैर दूखते ।
अथवा स्वप्नमें रहते । होता क्या प्रवास ॥ १२ ॥

इसका है यह अभिप्राय । जो यह भूत-सृष्टिका कार्य ।
चलता उसमें करणीय । मुझे कुछ भी नहीं ॥ १३ ॥

या राजाकी आश्रित प्रजा जैसे । बरतती अपने लिए वैसे ।
प्रकृतिके साथ मेरा भी वैसे । संबंध है यहां ॥ १४ ॥

पूर्णचंद्रसे मिलकर । आता सिंधु उमडकर ।
तब चंद्रको धनुर्धर । श्रमना है क्या ॥ १५ ॥

पासका लोह जो अ-चेतन । हिलता रहता यथा-स्थान ।
उससे चुंबकको सहन । करना क्या कष्ट ॥ १६ ॥
ऐसा निज-प्रकृति स्वीकार । करता हूं मैं पांडुकुमार ।
ऐसी भूत-सृष्टि सरासर । प्रसवती जाती ॥ १७ ॥

जो है यह भूतग्राम संपूर्ण । रहता है प्रकृतिके आधीन ।
जैसे बीजसे अंकुर अर्जुन । उपजाती भूमि ॥ १८ ॥

अथवा बाल्यादि अवस्थात्रय । लेकर शरीरका ही आश्रय ।
गगनकी मेघावली प्रश्रय । लेती वर्षा-ऋतुका ॥ १९ ॥

या स्वप्नका कारण निद्रा । वैसी प्रकृति है नरेंद्र ।
जो सम्पूर्ण भूत समुद्र । स्वामिनी प्रकृति ॥ १२० ॥

स्थावर औ' जंगम । स्थूल अथवा सूक्ष्म ।
ऐसा जो भूत ग्राम । प्रकृति मूल ॥ २१ ॥

इसलिए भूतमात्रोंका सृजन । या सृजित भूतोंका प्रतिपालन ।
करना नहीं पडता अर्जुन । हमको कभी ॥ २२ ॥

जलमें फैलती चन्द्रिकाकी लता । उसे चन्द्रको फैलाना न पडता ।
वैसे मुझसे दूर ही है रहता । कर्मजाल ॥ २३ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

उमडता जब ज्वार सिंधु-जलका । रोक न सकता तब बांध तृनका ।
वैसे मैं हूं सकल कर्मोंकी पूर्णता । यह क्या बांधेंगे मुझे ॥ २४ ॥

धूम्र रजका छतनार । रोके यदि वायुका जोर ।
या सूर्यबिंबमें अंधार । करे प्रवेश ॥ २५ ॥

जैसे पर्वतके उदरस्थ । न करे पर्जन्य-धार त्रस्त ।
वैसे प्रकृतिके कर्मजात । मुझे न करते स्पर्श ॥ २६ ॥

विकारोंमें यहां प्रकृतिके । मैं ही हूं जान तू समझके ।
किंतु उदासीन ही रहके । न करता न करता ॥ २७ ॥

घरमें रखी दीप-ज्योती । जो न प्रेरती या रोकती ।
कौन है यह न जानती । कौन क्या करता ॥ २८ ॥

जैसा होता वह साक्षीभूत । गृह-व्यापार प्रवृत्ति हेत ।
भूत कर्ममें मैं अनासक्त । वैसा रहता भूतोंमें ॥ २९ ॥

यह एक ही विचार । क्या कहूं मैं फिर फिर ।
पार्थ यहां एक बार । इतना जान तू ॥ १३० ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

जैसा लोक-चेष्टामें समस्त । निमित्त मात्र होता सवित ।
जगत प्रभवमें पांडुसुत । कारण मैं हूं ॥ ३१ ॥

किया मैंने प्रकृतिका अंगीकार । जिससे हुआ उत्पन्न स-चराचर ।
तब कारण मैं हुआ स-चराचर । यह है उपपत्ति ॥ ३२ ॥

किंतु जो ये सभी कर्म न बांध सकते मुझे ।
रहता मैं उदासीन तथा आसक्ति हीन भी ॥ ९ ॥

साक्षी मैं प्रकृति-द्वारा उठाता स-चराचर ।
उससे सब सृष्टीका होता है परिवर्तन ॥ १० ॥

इस प्रकाशमें तू निश्चित । निहार ऐश्वर्य योग नित ।
मुझमें है सब भूतजात । उसमें मैं नहीं ॥ ३३ ॥

या भूतमात्र नहीं मुझमें । तथा मैं नहीं भूतमात्रमें ।
इस रहस्यको जाननेमें । भूल न कर तू ॥ ३४ ॥

आकारके परे देखनेसे ही मेरा अनुभव आयेगा—

है यह हमारा सर्वस्व गूढ । दिखाया तुझको मैंने उघड ।
लगाकर इन्द्रियोंका किवाड । भोग तू हृदयमें ॥ ३५ ॥

रहस्य यह करमें नहीं आता । तब तक मेरा स्वरूप जो पार्था ।
नहीं समझेगा तुझको सर्वथा । भूसेमें जैसे दाना ॥ ३६ ॥

अन्यथा कभी अनुमानसे । लगे समझमें आयी ऐसे ।
क्या मृगजलके सींचनेसे । भीगती है खेती ॥ ३७ ॥

जलमें जब जाल फैलता । चन्द्रबिंब उसमें दीखता ।
जाल जब खींच लिया जाता । तब बिंब कहां ॥ ३८ ॥

शब्द चातुर्यसे वक्तृत्वके । मूँदते नयन प्रतीतिके ।
समय आने पर बोधके । रहते कोरे ॥ ३९ ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

यदि कोई संसारसे डरता । मेरी स्वरूप प्राप्तिको चाहता ।
तो हमारेमें जो विचार पार्थ । ध्यानमें रखले ॥ १४० ॥

जिसकी दृष्टिमें हुयी कामली । देखता वह चांदनी भी पीली ।
वैसा मेरा स्वरूप जो निर्मल । देखते हैं मलिन ॥ ४१ ॥

या ज्वरसे दूषित जा मुख । दूधको कहे कडुआ विष ।
वैसे अमानुषको मानुष । कहेंगे मुझको ॥ ४२ ॥

तुच्छतासे मुझे मूढ देख मानव रूपमें ।
न जानते महा-रूप मेरा जो विश्व-चालक ॥ ११ ॥

इसीलिए तू धनंजय । भूलेगा यह अभिप्राय ।
स्थूल दृष्टिका ज्ञानाशय । होगा व्यर्थ ॥ ४३ ॥

स्थूल-दृष्टिसे मुझे पार्थ । देखना है जान तू व्यर्थ ।
स्वप्नमें पीनेसे अमृत । न होता अमर ॥ ४४ ॥

वैसे स्थूल-दृष्टि है मूढ । जानते समझके दृढ ।
वह जानना होता आड । स्वरूप ज्ञानके ॥ ४५ ॥

होनेसे जैसा नक्षत्रका आभास । अपना ही घात कर लेता हंस ।
नीरमें रत्न-बुध्दिकी कर आस । मारकर चोंच ॥ ४६ ॥

गंगा जान गया मृगजल । उस जानेसे मिला क्या फल ।
सुरतरु समझ बबूल । लगानेसे क्या होगा ? ॥ ४७ ॥

हार मान नीलमणिका दुहरा । पकड लिया विषैला फणिधर ।
अथवा रत्न मानकर पत्थर । चुनना जैसे ॥ ४८ ॥

या प्रकट हुआ स्वर्ण-भंडार । कहकर उठा लिया अंगार ।
कूपमें कूदा छाया देखकर । अपनी सिंह ॥ ४९ ॥

मुझको देहधारी मानकर । निश्चय किया है धनुर्धर ।
उसने चंद्र समझकर । पकडा प्रतिबिंब ॥ १५० ॥

वैसे कृत-निश्चय गया व्यर्थ । कोयी जैसे मांड पीकर पार्थ ।
देखने लगा सुपरिणामार्थ । अमृतके मानो ॥ ५१ ॥

वैसे नाशवंत स्थूलाकार । चितमें निश्चय बांधकर ।
परखा अविनाश अक्षर । दीखूंगा मैं कैसे ॥ ५२ ॥

कोयी पश्चिम समुद्रका तट । चलके पहुंचे पूर्वकी बाट ।
चोकर कूट करके सुभट । मिलेंगे क्या दाने ॥ ५३ ॥

वैसे विकृत जो स्थूल । जानकर मैं केवल ।
जैसे फेन पीके जल । कैसे पायेगा ? ॥ ५४ ॥

ऐसे मोहग्रस्त मनसे । यही मैं मान संभ्रमसे ।
देहके जन्मादि कर्मोंसे । लादते मुझे ॥ ५५ ॥

जिससे अनामको नाम । मुझ क्रिया-शून्यको कर्म ।
अ-शरीरको देह धर्म । आरोपते ॥ ५६ ॥

मुझ आकारशून्यको आकार । औ' निरुपाधिकको उपचार ।
विधि विवर्जितको व्यवहार । आचारादिक ॥ ५७ ॥

मुझ वर्ण-हीनको वर्ण । तथा गुणातीतको गुण ।
औ' अ-चरणको चरण । अ-पाणिको पाणी ॥ ५८ ॥

अमर्यादको मान । सर्वगतको स्थान ।
शय्यापे लेटे जान । देखते हैं ॥ ५९ ॥

वैसे अ-श्रवणको श्रोत्र । मुझ अ चक्षुको नेत्र ।
तथा अ-गोत्रको गोत्र । रूप अ-रूपको ॥ १६० ॥

मुझ अव्यक्तको व्यक्ति । तथा अनार्तको आर्ती ।
सर्व तृप्तिको है तृप्ति । सोचते सब ॥ ६१ ॥

अनावरणको प्रावरण । भूषण-अतीतको भूषण ।
सकल कारणको कारण । देखते मुझको ॥ ६२ ॥

मुझ सहजको रचते । स्वयंभूको हैं प्रतिष्ठते ।
निरंतरको आह्वानते । तथा विसर्जते हैं ॥ ६३ ॥

सर्वदा मैं स्वयं-सिद्ध । बाल तरुण और वृद्ध ।
एक रूपका संबंध । जानते वे मुझे ॥ ६४ ॥

मुझ अद्वयको द्वैत । अकर्ताको माने कर्ता ।
तथा अभोक्तको भोक्ता । कह जानते ॥ ६५ ॥

अकुलका करते कुल-वर्णन । नित्यके निधनसे व्याकुल-मन ।
अंतर्यामिका शत्रु-मित्र अर्जुन । मानते हैं वे ॥ ६६ ॥

मैं हूं सर्वदा स्वानंदाभिराम । मुझे माने सकल-सुखकाम ।
सर्वत्र व्याप्त हूं संपूर्ण सम । मानते मुझ स्थानिक ॥ ६७ ॥

आत्मा मैं चराचरमें बसता । कहते एकका पक्ष लेता ।
दूसरेका शत्रु बन मारता । बढाचढाके गाते यह ॥ ६८ ॥

अजी ! प्रायः ऐसे समस्त । मनुष्य-धर्म जो प्राकृत ।
लगाते मुझे विपरीत । यही उनका ज्ञान ॥ ६९ ॥

आकार कोई जब देखते । देव भावसे पूजा करते ।
वह बिगडनेपे कहते । नहीं रहा अब ॥ १७० ॥

ऐसे ही अनेक प्रकार । बनाकर मानवाकार ।
करके ज्ञानपे अंधार । विपरीत ज्ञानसे ॥ ७१ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

मैं अंधोंके हाथमें पड़ा मोति-सा हूं—

इसीलिए जन्मना ही मोघ । जैसे वर्षाके बिन ही मेघ ।
अथवा मृगजल तरंग । देखना दूरसे ही ॥ ७२ ॥

या मृत्तिकाके घुडसवार । या कलंदरके अलंकार ।
गंधर्व-नगरका आवार । आभास जो ॥ ७३ ॥

जैसे थूहरका बडा सरल । अंदर खोकला ना है फल ।
लटकते स्तन जैसे गला- । में बकरीके ॥ ७४ ॥

मूर्खका जीवन है व्यर्थ । जैसे सेमल फल पार्थ ।
धिक् उसके कर्म समस्त । जो हैं निरर्थक ॥ ७५ ॥

फिर मानो है उसका पढना । मर्कटका नरियल तोडना ।
अथवा अंधेका हाथ पडना । मोति जैसे ॥ ७६ ॥

वास्तवमें उनके शास्त्र । कुम्हारके हाथमें शस्त्र ।
या कहा अशौचको मंत्र- । बीज किसीने ॥ ७७ ॥

वैसे उसका ज्ञान-जात । औ' आचरण क्रिया पार्थ ।
वह संपूर्ण गया व्यर्थ । चित्तहीन ॥ ७८ ॥

तमो-गुण राक्षसी । जो है सद्बुद्धि ग्रासी ।
विवेक-मूल नासी । निशाचरी ॥ ७९ ॥

उस प्रकृतिके आधीन हुये । इसीलिए चिंताका ग्रास भये ।
इस तामसीके कलेऊ हुये । मुखमें ही ॥ १८० ॥

वे आशावाद मूढोंके व्यर्थ हैं ज्ञान-कर्म भी ।
जिन्होंने संपदा पायी आसुरी मोह-कारक ॥ १२ ॥

जहां लारमें आशाकी । लोटती जिह्वा हिंसाकी ।
जुगाली करें कौरकी । मोदसे नित ॥ ८१ ॥

जो हैं कान तक अनर्थके । चाटती जीभ बाहर लाके ।
कोह बन प्रमाद गिरिके । हुई उन्मत्त ॥ ८२ ॥

जहां हैं क्रूर दांत द्वेषके । पीसते हैं बीजको ज्ञानके ।
आवरण डालते तमके । मूढ-बुध्दि पर ॥ ८३ ॥

आसुरी बुद्धिके मुखमें ऐसे । पडते हैं भूत बलिके कौरसे ।
भ्रमजालके कुण्डमें पडनेसे । सुन धनंजय ॥ ८४ ॥

पडे वे ऐसे गर्तमें तमके । न लगते हाथमें विचारके ।
जहां गये उस स्थानके । निशान भी नहीं ॥ ८५ ॥

मैं भक्तोंके कीर्तन-मेलेमें रहता हूं—

यह निष्फल वर्णन तदर्थ । रहने दो मूर्खोंकी बात पार्थ ।
विस्तार करनेसे वाणी व्यर्थ । थकेगी इससे ॥ ८६ ॥

ऐसे बोले तब देव । "जी" कहा सुन पांडव ।
सुन वाचा ही नीरव । साधु-कथासे ॥ ८७ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

अजी ! जिनका है निर्मल मानस । बसता वहां मैं ले क्षेत्र-सन्यास ।
नींदमें भी वे करते स-उल्लास । वैराग्याराधना ॥ ८८ ॥

जिनका सद्भाव आलंबन । रहता धर्मका सिंहासन ।
जिनके मनका है जीवन । विवेकमात्र ॥ ८९ ॥

जो हैं ज्ञान गंगामें स्नात । पूर्णता-भोजनसे तृप्त ।
शांति-लताके नव-पात । है अति कोमल ॥ १९० ॥

जुटाके संपदा दैवी महात्मा भजते मुझे ।
अनन्य भावसे जान मैं विश्वारंभ शाश्वत ॥ १३ ॥

पूर्णावस्थामें जो फूटे अंकुर । तथा धर्म-मंडपके आधार ।
शांति-सागरसे लिये हैं भर । पूर्ण-कुम्भ जैसे ॥ ९१ ॥

भक्तिकी हुई इन्हें इतनी प्राप्ति । कहते वे परे हठो तुम मुक्ति ।
उनके आचरणसे है नीति । खिलती सदा ॥ ९२ ॥

उनकी इंद्रियां भी संपूर्ण । पहने हैं शांतिका भूषण ।
उनका चित है आवरण । मुझ व्यापकको ॥ ९३ ॥

ऐसे जो महानुभाव । दैवी प्रकृतिके देव ।
जान करके वे सर्व । मेरा ही रूप है ॥ ९४ ॥

बढता हुआ उनका प्रेम । मुझे भजता है जो निष्काम ।
किंतु भिन्नताका मनोधर्म । छूता भी नहीं ॥ ९५ ॥

स्वयं मैं होकर पांडव । करते हैं वे मेरी सेवा ।
किंतु आश्चर्य है जो भाव । अब मैं कहता ॥ ९६ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

उत्कर्षसे उन्होंने कीर्तनके । नाशे व्यवसाय प्रायश्चित्तके ।
नाम भी न रहे सब पापके । ऐसा ही किया ॥ ९७ ॥

निस्तेज किये सब यम-दम । तीर्थ हटाये पदसे उत्तम ।
थमे यमलोकके उपक्रम । अनेक प्रकारके ॥ ९८ ॥

यम कहें क्या यमना । दम पूछे किसे दमना ।
तीर्थ कहते हैं क्या खाना । दोष नहीं नाम-मात्र ॥ ९९ ॥

ऐसा है मेरा नाम-घोष । मिटाते हैं विश्वके दुःख ।
सारे जगमें महासुख । गूंज-महकता ॥ २०० ॥

दिखाते वे सूर्योदय बिन । जिलाते हैं अमृतके बिन ।
तथा वे देते योगके बिन । दर्शन-कैवल्यको ॥ १ ॥

नित्य कीर्तनमें मेरे यत्नसे लीन जो व्रती ।
भक्तिसे नित्य हो युक्त पूजते नम्र भावसे ॥ १४ ॥

राजा रंकका भेद नहीं करते । बाल-वृद्ध यह भी नहीं देखते ।
जगतको आनंदमें भर देते । पूर्ण-रूपसे ॥ २ ॥

अजी ! कभी कोई जाता है वैकुण्ठ । इन्होंने किया है विश्व ही वैकुण्ठ ।
मेरे नाम गौरवसे है सुभट । उजलाया विश्व ॥ ३ ॥

तेजमें होते सूर्य-से उज्वल । किन्तु सूर्यमें अस्तका काजल ।
पूर्ण-चन्द्र रहता एक काल । ये सदा पूर्णत्वमें ही ॥ ४ ॥

बरसनेमें मेघ उदार । घटनेमें हैं वह अपूर ।
ये निःसंदेह कृपालु वीर । पंचानन ॥ ५ ॥

उनकी जिह्वा पर सतत । नाम रहे मेरा नृत्य-रत ।
पानेमें जो जाते जन्मजात । सहस्रावधि ॥ ६ ॥

तब मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता । भानु-बिंबमें तब नहीं दीखता ।
योगियोंके हृदयके पार जाता । मैं उस समय ॥ ७ ॥

किंतु उनके पास धनुर्धर । करते जो नाम-घोष मधुर ।
रहता हूँ मैं निश्चित सादर । जो है खोया हुआ ॥ ८ ॥

मेरे गुणगानमें ही हैं वे तृप्त । देशकाल भूलते जो नामरत ।
कीर्तन सुखमें हुए सतत । स्वरूप रूप ॥ ९ ॥

कृष्ण विष्णु हरि गोविंद । नामके निखिल प्रबंध ।
तथा आत्म-चर्चा विषद । खोते हैं उसमें ही ॥ १० ॥

नमस्कार भक्तिसे मद्रूप होते हैं—

रहने दो अब ये अर्जुन । सुन करके वे मेरा कीर्तन ।
तथा विचरते हैं अनुदिन । चराचरमें ॥ ११ ॥

ऐसे अनेक हैं पार्थ । कर सहज सिद्धता ।
मन-प्राणको ले साथ । पथ-दर्शक ॥ १२ ॥

बाहर लगायी यम नियमकी बाड़ । भीतर वज्रसनका गढ़ सुदृढ़ ॥
उस पर प्राणायमकी तोप चढ़ा- । रखी है सज्ज ॥ १३ ॥

वहां कुण्डलिनीके प्रकाशमें । मन-पवनके सहयोगमें ।
कर लिया अपने आधीनमें । सत्रहवींका कुम्भ ॥ १४ ॥

प्रत्याहारने तब परक्रम किया। विषयोंके नाम मात्रको मिटा दिया।
सब इन्द्रियोंको बांध करके लाया। हृदयांगनमें ॥ १५ ॥

तब दौड़े धारणाके घुड़सवार। पकड़ लाये महाभूत इक ठौर।
फिर किया चतुरंग सेना संहार। जो हैं संकल्पकी॥ १६ ॥

तब "विजय हुआरे विजय।" सिंगी बजी ध्यानकी हो निर्भय।
दीखता तन्मयका स-समय। वहां एक-छत्र ॥ १७ ॥

फिर समाधिश्रीका अशेष। आत्मानुभवका राज्य-सुख।
सिंहासन आरोहण देख। हुआ समरससे ॥ १८ ॥

ऐसा है यह गहन। अर्जुन मेरा भजन।
अब कहता हूं सुन। अन्य प्रकार ॥ १९ ॥

जैसे सर्वत्र समानरूपमें। एक तंतु रहता है वस्त्रमें।
वैसे वे "मैं" बिन चराचरमें। जानते नहीं ॥ २० ॥

आदि ब्रह्मसे लेकर। मच्छर तक आखर।
मेरा रूप है सुन्दर। जानते हैं यह ॥ २१ ॥

फिर छोटा बड़ा नहीं कहते। निर्जीव सजीव नहीं जानते।
सबके सम्मुख नम्र हैं होते। सब "मैं" मानकर ॥ २२ ॥

अपना उत्तमत्व नहीं जानते। औरोंकी योग्यायोग्यता न देखते।
सर्वत्र आत्म-तत्व देख नमते। प्रेम-भावसे ॥ २३ ॥

जैसे ऊपरसे पानी गिरता। नीचे तल तक है वह जाता।
वैसे भूतमात्रसेही नम्रता। स्वभाव यह उनका ॥ २४ ॥

या वृक्षकी शाखा फल-भारसे। उतरती है सहज-भावसे।
वैसे वे झुकते हैं नम्रतासे। सबके प्रति ॥ २५ ॥

रहते हैं सर्वज्ञ निराभिमान। विनय ही उनकी संपत्ति महान।
करते वे जयजय मंत्र अर्पण। मुझको ही ॥ २६ ॥

नमनसे गला मानाभिमान। सहज हुए मद्रूप अर्जुन।
ऐसे होकर मत्स्वरूप-लीन। भजते मुझको ॥ २७ ॥

है यह अर्जुन श्रेष्ठ भक्ति। कही मैंने अभी तेरे प्रति।
ज्ञान-यज्ञसे भजन रीति। सुन तू भक्तकी अब ॥ २८ ॥

ज्ञानी-भक्त सदा-सर्वत्र एक भावसे मुझे देखता है—

यह भजन-परिपाटी। जानता ही है तू किरीटी।
की इसकी हमने गोष्ठी। पहले ही ॥ २९ ॥

तब कहता है "जी हां" अर्जुन। "यह है देवप्रसाद महान।"
जब मिलता अमृत-भोजन। कहेगा कौन "बस है" ॥ २३० ॥

सुनकर यह अनंत। हुआ अति प्रसन्न-चित्त।
सुननेका अर्जुन-मत। जानकर ॥ ३१ ॥

कहते हैं भला किया पार्था। यह अनवसर सर्वथा।
किंतु कहलाती तेरी अवस्था। मुझसे अब ॥ ३२ ॥

पार्थ पूछे ऐसे कैसे कहता। बिन चकोर चंद्र नहीं उगता?।
देता है वह विश्वको शीतलता। यह स्वभाव उसका ॥ ३३ ॥

यहां चकोर अपनेही हितार्थ। चोंच उठाता चन्द्रकी ओर नित।
हमारी विनय है एक निमित्त। देव आप कृपासिंधु ॥ ३४ ॥

उदारतासे मेघ बरसता। जगतकी है तरस मिटाता।
चातककी प्यासकी क्या है कथा। वर्षाके सम्मुख ॥ ३५ ॥

पानीके लिये एक घूंट। जाना पडता गंगा-तट।
देव सुनाओ हमें चट। चाह है बहु या अल्प ॥ ३६ ॥

कृष्ण कहे रहने दो पार्था। देखके तुम्हारी यह आस्था।
हुआ है मेरा चित्त मुदित। स्तुति न होती सहन ॥ ३७ ॥

जब तू सुनता है अति उत्तम। वक्तृत्व निमंत्रणका काम।
कहता यह बोल पुरुषोत्तम। आदर कर बोले ॥ ३८ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

ज्ञान-यज्ञका यह रूप। आदि संकल्प यह यूप।
पंच-महाभूत मंडप। भेद है पशु ॥ ३९ ॥

दूसरे ज्ञान-यज्ञोंसे देखके ब्रह्म-भावसे।
विवेकसे अविभेद भेदमें भजते मुझे ॥ १५ ॥

फिर पांचोंके जो विशेष गुण। अथवा इन्द्रियां तथा है प्राण।
यही है यज्ञोपचार भरण। अज्ञान है घृत॥ २४०॥

वहां कुण्ड है मन बुद्धिका। प्रज्वलित अग्नी है ज्ञानका।
समताकी सुन्दर वेदिका। जान तू पार्थ॥ ४१॥

मति कौशल्य स-विवेक। मंत्र-विद्या गौरव नेक।
शांति ही है सुवा और सुक। जीव है यजमान॥ ४२॥

स्वरूपानुभव पात्रसे। विवेकके महा-मंत्रसे।
वह है ज्ञानाग्नि होत्रसे। नाशता भेद॥ ४३॥

जब है अज्ञान मिट जाता। यजितका यज्ञ है रुकता।
आत्म-समरस स्नान होता। अवभृतका॥ ४४॥

तब भूत विषय कारण। न होता इसका भेद ज्ञान।
एकत्वका है संपूर्ण ज्ञान। होता आत्म-बुद्धिसे॥ ४५॥

जागृत मनुष्य जैसे अर्जुना। कहता स्वप्नकी विचित्र सेना।
आप रही स्वयं बन गया था ना। निद्राशव होकर॥ ४५॥

अब न रही सेना जो थी सेना। मैं अकेला ही था पूर्ण रूपेण।
ऐसा होता तब एकत्व-भान। उसको विश्वका॥ ४७॥

फिर जीवत्वका भान है मिटता। आब्रह्म परमात्म बोध भरता।
इस भांति ज्ञान-भावसे भजता। अद्वय-बोधसे॥ ४८॥

जब सर्वत्र मैं हूं तब अलग भजन कैसे?—

या अनादि यह अनेक। भिन्नत्व है अनेकानेक।
तथा है नाम-रूपादिक। वह भी विषम॥ ४९॥

इसीलिए विश्व है भिन्न। न भेदता उसका ज्ञान।
जैसे अंग हैं भिन्न भिन्न। पर शरीर एक॥ २५०॥

शाखाओंके अनेक प्रकार। किंतु है एक ही तरूवर।
रश्मि ढेर, एक दिनकर। वैसे ही पार्थ॥ ५१॥

वैसे नानाविध व्यक्ति । नाना नाम तथा वृत्ति ।
उसमें मैं अभेद - मूर्ति । भेदमें जानते ॥ ५२ ॥

ऐसे भिन्नत्वमें धनुर्धर । करते ज्ञानयज्ञ सुन्दर ।
बोध न होता नाना प्रकार । जाननेसे ॥ ५३ ॥

या जहां जो कुछ है देखते । मेरे बिन अन्य न जानते ।
सदा मेरी प्रतीति करते । यह बोध उनका ॥ ५४ ॥

बुल्ले जहां तथा जितने होते । जलके आधारसे ही बनते ।
फिर रहते या धुल जाते । पानीमें ही ॥ ५५ ॥

मानो आंधीने परमाणु उडाये । वे भूमित्वसे अलग नहीं गये ।
वे जब पुनः नीचे ही गिर गये । तो पृथ्वी पर ही ॥ ५६ ॥

वैसे कहीं कुछ भी हो जाये । या कहो कुछ भी ना हो जाये ।
सब ही "मैं" बोध लेते गये । सर्व-भावसे ॥ ५७ ॥

अजी! जहां जितनी मेरी व्याप्ति । उतनी ही है उनकी प्रतीति ।
बहुधाकारकी वर्तन स्थिति । बहुरूप उनकी ॥ ५८ ॥

जैसे भानु-बिंब नित्य । सबके सम्मुख दिव्य ।
वैसे वे विश्वके भव्य । सदा सम्मुख ॥ ५९ ॥

अजी! उनका वह जो ज्ञान । आगे पीछे न जाने अर्जुन ।
वायु जैसा सदैव गगन । रहे सर्वत्र ॥ २६० ॥

वैसे जितना हूं मैं संपूर्ण । उतना उनका भाव-पूर्ण ।
इससे न करते अर्जुन । भजन होता है ॥ ६१ ॥

वैसे मैं हूं सर्वत्र पूर्ण रूपसे । कहां मेरा भजन न होता कैसे ।
किंतु यहां ऐसा ज्ञान होनेसे । भजन न होता ॥ ६२ ॥

यहां जो उचित रूपसे । भजते हैं ज्ञान-यज्ञसे ।
कही बात मैंने तुझसे । उनकी पार्थ ॥ ६३ ॥

जहां मैं नहीं ऐसा स्थान नहीं—

यह सब है सतत सबकी ओरसे । अर्पण होता मुझे सहज भावसे ।
यह नहीं जाननेसे अज्ञानियोंसे । न होता मुझे अर्पण ॥ ६४ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्नोऽहममेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

उदय होगा जब ज्ञानका । तब वेद ही "मैं हूं" इसका ।
"मैं" ही तजन्य-क्रतु होनेका । अनुभव होगा ॥ ६५ ॥

तब यज्ञ जन्य सकल । सांगोपांग कर्म निर्मल ।
यज्ञ भी "मैं" यह निखिल । होगा बोध पार्थ ॥ ६६ ॥

स्वाहा "मैं" हूं तथा स्वधा । सोमादि दिव्य विविध ।
आज्य और "मैं" समिधा । मंत्र औ, हवि भी ॥ ६७ ॥

होता मैं हवन करता । अग्नि स्वरूप मैं रहता ।
हवन-वस्तु जो जो होता । वह सब मैं हूं ॥ ६८ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

अजी ! जिसके अंग-संगसे । यहां प्रकृतिके अष्टांगसे ।
जन्म होता विश्वका जिससे । पिता वह मैं हूं ॥ ६९ ॥

अर्धनारी नटेश्वरी । जो पुरुष वह नारी ।
वैसा मैं सचराचरीं । माता भी हूं ॥ २७० ॥

जगत जहांसे होता औ' रहता । जिससे जीवन लेकर बढता ।
मेरे बिना वह कछु नहीं होता । अन्य धनुर्धर ॥ ७१ ॥

प्रकृति तथा पुरुष दोनोंको यहां । जनम दिया हमने मनमें जहां ।
वह पितामह त्रिभुवनमें यहां । मैं हूँ विश्वका ॥ ७२ ॥

जहां ज्ञान-रूप सभी बाट । जिस स्थान आती हैं सुभट ।
उन वेदोंकी वेद्य जो गोष्ठ । कहलाती है ॥ ७३ ॥

मैं ही संकल्प मैं यज्ञ स्वावलंबन अन्न मैं ।
मंत्र मैं हव्य भी मैं हू अग्नि मैं अहुती तथा ॥ १६ ॥

जगदाधार ही मैं हूं माता पिता पितामह ।
मैं तीनों वेद ओंकार जानने योग्य पावन ॥ १७ ॥

जहां नाना मतोंका अपरिचितपन । मिटता है शास्त्रोंका अनजान ।
मिलते हैं जहां भूले हुए सभी ज्ञान । वह पवित्र मैं हूँ ॥ ७४ ॥

ब्रह्म-बीजका फूटा अंकुर । घोष ध्वनि नाद औ' आकार ।
उसका भुवन जो ओंकार । वह भी मैं हूँ ॥ ७५ ॥

उस ओंकारका है उदर । समालेता है अ, उ, म, कार ।
जनमते ही वेद लेकर । उठे वे तीनों ॥ ७६ ॥

इसीलिए ऋग् यजु तथा साम । ये तीनों कहे मैं आत्माराम ।
एवं मैं ही हूँ सब कुलक्रम । शब्द ब्रह्मका ॥ ७७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

जो है यह चराचर संपूर्ण । जिसमें भरी है प्रकृति पूर्ण ।
उस प्रकृतिका विश्राम स्थान । परमगति मैं हूँ ॥ ७८ ॥

जिससे पाती है प्रकृति जीवन । अधिष्ठानसे होता विश्व जनन ।
आकर जो उस प्रकृतिके गुण । भोगता है ॥ ७९ ॥

विश्वश्रीका वह भर्ता । मैं हूँ जानो पांडुसुता ।
हूँ अधिपति समस्ता । त्रिभुवनका मैं ॥ २८० ॥

आकाशको सर्वत्र बसाना । वायुको कभी स्वस्थ न होना ।
तथा वर्षाको बरसना । औ' दहना अग्निको ॥ ८१ ॥

पर्वतको न छोडना आसन । समुद्रको न सीमा उल्लंघन ।
पृथ्वी करे भूतोंका वहन । यह है आज्ञा मेरी ॥ ८२ ॥

मेरे कहनेसे है वेद बोलता । मेरे चलानेसे सूर्य है चलता ।
मेरे हिलानेसे प्राण है हिलता । करता विश्वका चलन ॥ ८३ ॥

मेरे ही नियमनमें काल । प्राणि-मात्रको जाता निगल ।
मेरी ही आज्ञामें हैं सकल । चलता नित्य ॥ ८४ ॥

साक्षी स्वामी सखा भर्ता निवास गति आसरा ।
मैं हूं कर्ता धर्ता हर्ता निदान बीज अक्षय ॥ १८ ॥

ऐसा हूँ मैं समर्थ । जो जगतका नाथ ।
औ' मैं हूँ साक्षीभूत । गगन जैसा ॥ ८५ ॥

यहां नाम रूपमें पूर्ण । बसा हुआ है अर्जुन ।
नाम रूपका अधिष्ठान । वह भी मैं हूँ ॥ ८६ ॥

जलका है जैसे कल्लोल । औ' कल्लोलमें होता जल ।
वैसे विश्वका मैं सकल । आधार भूत हूँ ॥ ८७ ॥

होता जो मेरा अनन्य शरण । उसका हरता जन्म मरण ।
शरणगतका शरण्य स्थान । मैं ही एक ॥ ८८ ॥

एक मैं अनेक रूप-धारण । कर ले प्रकृतिके भिन्न गुण ।
बन सजीव जगतके प्राण । रहता हूँ पार्थ ॥ ८९ ॥

डबरा सागर भेद न मान । सबमें बिंबता सूर्य समान ।
वैसे ब्रह्मादि भूतमें समान । सु-हृदयस्थ मैं ॥ २९० ॥

अजी ! मैं ही हूँ अर्जुन । त्रिभुवनका जीवन ।
सृष्टि क्षयका कारण । मूल जो मैं हूँ ॥ ९१ ॥

बीज ही शाखाओंको प्रसवता । वही वृक्ष बीजमें हैं समाता ।
वैसे संकल्पसे सब बनता । औ' समाता संकल्पमें ॥ ९२ ॥

विश्वका बीज जो है संकल्प । अव्यक्त तथा वासना रूप ।
उस संकल्पका है निक्षेप । अन्तमें मैं हूँ ॥ ९३ ॥

यहां नाम रूप मिटते । वर्ण औ' व्यक्ति है अटते ।
जातिके भेद भी खुलते । जब न होता आकाश ॥ ९४ ॥

संकल्प वासना संस्कार । फिर रचनेमें आकार ।
रहते हैं जहां अमर । वह स्थान मैं हूँ ॥ ९५ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

तपके जलको खींच गिराता वृष्टि रूपसे ।
मृत्यु मैं और मैं मोक्ष मैं ही सत् और हूं असत् ॥ १९ ॥

मैं सूर्य बन तपता । शोषता औ' प्रकाशता ।
इंद्र बन मैं वर्षाता । आता सुकाल ॥ ९६ ॥

जब है अग्नि काष्ठ खाता । काष्ठ ही है अग्नि बनता ।
वैसे मरता व मारता । जानो स्वरूप मेरा ॥ ९७ ॥

जो जो दीखता है यहां मर्त्य । वह सब मेरा रूप स्तुत्य ।
तथा जो है सहज अमर्त्य । वह अविनाशी हूँ मैं ॥ ९८ ॥

अजी ! बहुत बोल क्या करना । सबही एक वाक्यमें जानना ।
सता-सत सार अनुभवना । मैं हूँ सब ॥ ९९ ॥

पुण्यकी समाप्तिके बाद पुनः मृत्यु-लोकमें—

इसीलिए पार्थ मैं नहीं । ऐसा कछु है नहीं कहीं ।
प्राणियोंका दैव है कहीं । जो न देखें मुझको ॥ ३०० ॥

पानी बिन तरंग है सूखती । सूर्य बिन रश्मि न दीखती ।
न करते मद्रूपकी प्रतीति । है यह विस्मय ॥ १ ॥

भरा यह मुझसे बाहर भीतर । ढला है विश्व मुझसे ही ओर छोर ।
किंतु बीता है उनका कर्म-कठोर । कहते हैं मैं नहीं ॥ २ ॥

अमृत-कुण्डमें जो पडते । अपनेको निकाल कहते ।
ऐसोंको है क्या कह सकते । अप्राप्यको होता ऐसा ॥ ३ ॥

अन्नके लिए एक कौर । दौडता है अंध सत्वर ।
चिंतामणि ठुकराकर । अंधत्वमें ॥ ४ ॥

मिटती है जब ज्ञानमें आस्था । होती ऐसी अंधेकीसी अवस्था ।
करके न किया ऐसा सर्वथा । होता ज्ञानके बिन ॥ ५ ॥

अंधेको गरुड पंख मिलता । उसका क्या उपयोग होता ।
वैसे सत्कर्म सदा व्यर्थ जाता । ज्ञानके बिन ॥ ६ ॥

अजी ! देख तू यह अर्जुन । आश्रम-धर्मका आचरण ।
विधि-मार्गका देता शिक्षण । अपने आप ॥ ७ ॥

करनेसे सहज-यजन । होता है प्रसन्न वेदार्जन ।
क्रिया फल सह मूर्तिमान । आता सम्मुख ॥ ८ ॥

ऐसे दीक्षित है जो सोमप । आपही होते यज्ञ-स्वरूप ।
वहां पुण्यके नामसे पाप । जुडा जान ॥ ९ ॥
श्रुतित्रयको वे जानकर । शत-यज्ञोंको सम्पन्न कर ।
यजित मुझको भूलकर । चाहते स्वर्ग ॥ ३१० ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

जैसे जो कल्पतरुकी छायामें । बैठ गांठ बांधे भिक्षा-झोलीमें ।
निकलेगा ही वह भिक्षान्नमें । निदैवी निश्चित ॥ ११ ॥
वैसे सौ शत सौ यज्ञ किये मेरेलिए । किंतु चाह है स्वर्ग सुखकेलिए ।
पुण्य करना यह पापकेलिए । ऐसा नहीं क्या ? ॥ १२ ॥
मुझे छोडकर पाना स्वर्ग । अज्ञानका यह पुण्यमार्ग ।
ज्ञानी जन उसे उपसर्ग । कहते हैं जो ॥ १३ ॥
वैसे देख नरकको दुःख । दिया है नाम स्वर्गको सुख ।
नित्यानन्द-रूप है निर्दोष । स्वरूप मेरा ॥ १४ ॥
मेरे पास आते हुए पार्थ । पडते हैं ये दोनों सतत ।
स्वर्ग तथा नरकका पथ । है ये चोरोंके ही ॥ १५ ॥

जो मेरे पास लाता है वही शुद्ध-पुण्य है—

स्वर्ग देता है पुण्यात्मक पाप । नरक देता है पापात्मक पाप ।
मुझ तक पहुंचाता है आप । यह है शुद्ध-पुण्य ॥ १६ ॥
मत्स्वरूपमें रहते । मुझसे हैं दूर होते ।
ऐसे कर्मको कहते । पुण्य कैसे ? ॥ १७ ॥

वेदाभ्यासी सोम पीके पुनीत
यज्ञसे जो चाहते स्वर्ग पाना ।
वे पुण्यसे पाकर इंद्र-लोक
पाते वहांके सुख भोग दिव्य ॥ २० ॥

किंतु रहने दो यह प्रस्तुत । सुन इस भांति हैं वे दीक्षित ।
यज कर मुझको ही याचित । स्वर्गका सुख ॥ १८ ॥

जो पापात्मक पुण्य होता । उससे मैं नहीं मिलता ।
उससे प्राप्त जो योग्यता । देती है स्वर्ग ॥ १९ ॥

स्वर्ग-सुखका वर्णन—

अमरत्व जहां सिंहासन । ऐरावत जैसा है वाहन ।
राजधानी तथा है भुवन । अमरावती ॥ ३२० ॥

महासिध्दिका जहां भंडार । अमृतका भरा है कोठार ।
वहां फिरते हैं समाहार । कामधेनुके ॥ २१ ॥

देवही जहां स्वयंसेवक । भूमि है चिंतामणिकी नेक ।
विनोद वाटिका हैं अनेक । सुरतरुकी वहां ॥ २२ ॥

गायन गंधर्वोका । नर्तन है रंभाका ।
विलास उर्वषीका । मिलता वहां ॥ २३ ॥

मदन करता शैय्या-श्रृङ्गार । चन्द्र बिछाता अमृत-तुषार ।
हरकारा है पवन तयार । वहां सदैव ॥ २४ ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

बृहस्पतिसे महान । स्वस्तिश्रीके ब्राह्मण ।
भोजनमें सुरगण । साथ रहते ॥ २५ ॥

वे भोगते स्वर्ग विशाल ऐसा
आते यहीं क्षीण होते हि पुण्य ।
ऐसे फलासक्त जो वेद-धर्मी
पुनः पुनः जाकर लौटते हैं ॥ २१ ॥

लोकपालोंके समान । अश्व खींचते वाहन ।
उच्चैश्रवा स-सम्मान । चलता आगे ॥ २६ ॥
वहां मिलते हैं ऐसे । भोग इंद्र-सुख जैसे ।
पुण्यांश लोप होनेसे । होते लोप ॥ २७ ॥

पुण्य क्षीण होनेके बाद—

पुण्यका जब लोप होता । इंद्रैश्वर्य भी है मिटता ।
तब लौट आना पडता । मृत्यु लोकमें ॥ २८ ॥
धन गंवाता है जो वेश्यागमनमें । जा न सकता फिर उसके द्वारमें ।
दीक्षितके वैसे लज्जित जीवनमें । कहना क्या रहा ? ॥ २९ ॥
उन्होंने यहां खोया मुझको । पुण्य बलसे चाहा स्वर्गको ।
वंचित हुवे अमरत्वको । तब फिर मृत्यु-लोक ॥ ३३० ॥
फिर माताका उदर गह्वर । पचाना वहाँ मलमूत्र सागर ।
वहां रहके नवमास भर । जनमते औ' मरते ॥ ३१ ॥
अजी ! स्वप्नमें पाते निधान । जगकर भूलते सम्पूर्ण ।
वैसे स्वर्गका सुख है जान । वेदज्ञोंका ३२ ॥
यद्यपि हैं वेद महान । मेरे बिन हैं वे अर्जुन ।
भूसा कूटना धान बिन । वैसा है व्यर्थ ॥ ३३ ॥

जो मेरी निष्काम भक्ति करते हैं उनका मैं दास बनता हूं—

इसलिए जो मेरे बिन । वेद-धर्म है अकारण ।
जान मुझे कुछ न जान । तो भी होगा सुखी ॥ ३४ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

चितसे सर्व भाव संपूर्ण । मुझे किया सर्व समर्पण ।
जैसे गर्भ-गोल है अजान । न जानता उद्यम ॥ ३५ ॥

अनन्य भावसे नित्य भजते भक्त जो मुझे ।
उनका जो सदा लीन चलाता योग-क्षेम मैं ॥ २२ ॥

मेरे बिन कुछ भी नहीं । जिन्हें सुहाता कभी कहीं ।
उनके जीवन हेतु ही । एकमात्र मैं ॥ ३६ ॥

ऐसा अनन्य गति जो चित्त । मेरे ही चिंतनमें है रत ।
उनकी मैं हूँ दिन रात । सेवा करता ॥ ३७ ॥

जब वे एकनिष्ठ हो पार्थ । चलते रहते मेरा पथ ।
उनकी चिंता है मेरे साथ । लगती सदा ॥ ३८ ॥

फिर जो जो है उनको करना होता । वह सब मुझको ही करना पडता ।
जैसा अजात पक्षीका जीवन होता । पक्षिणीको जीना ॥ ३९ ॥

शिशु अपनी भूख-प्यास न जानता । तब माताको सब करना पडता ।
वैसे जो प्राण-पणसे मुझे भजता । उनकी सेवा लजाता नहीं ॥ ३४० ॥

उसको चाह मेरे सायुज्यकी । उसे पूर्ण करना मेरे मनकी ।
या सेवाकी चाह मुझसे उसकी । जिससे होती प्रीति ॥ ४१ ॥

वैसे मनमें वे जो जो भाव । धरते पूर्ण करता देव ।
देता जो उसे मैं ही सदैव । रक्षण करता ॥ ४२ ॥

किंतु विश्वमें सकाम भक्त ही अधिक हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

यह योग-क्षेम सम्पूर्ण । मुझ पर पडा अर्जुन ।
उसका है सर्व भावेन । मैं ही आश्रय ॥ ४३ ॥

अब अन्य कयी हैं संप्रदाय । जो मुझे न जानते मैं उन्हें नित्य ।
वे हैं अग्नि इन्द्र सूर्य सोमाय । कहकर हैं यजते ॥ ४४ ॥

वह भी है मेरा ही भजन । क्योंकि यह जो है मैं ही पूर्ण ।
किंतु यह सरल न जान । वक्र ही हैं ॥ ४५ ॥

श्रद्धा-पूर्वक जो कोयी पूजते अन्य दैवत ।
पूजते हैं मुझको ही किंतु है विधि छोडके ॥ २३ ॥

जैसे शाखा पल्लव वृक्षके । सारे हैं ये एक ही बीजके ।
किंतु पानी लेते हैं जडके । धर्म वैसे ही ॥ ४६ ॥

या जो दस इन्द्रियां हैं । सब एक ही देहकी हैं ।
इनके विषय जाते हैं । एक ही स्थानपे ॥ ४७ ॥

किंतु मृष्टान्न कैसे मधुर । कानोंमें भरना सुखकर ।
कैसे जाने सौरभ मधुर । सूँघकर नमक ॥ ४८ ॥

जैसे जिह्वासे रस चखना । घ्राणसे ही परिमल लेना ।
वैसे मेरा भजन करना । मुझे जानकर ॥ ४९ ॥

मुझे न जानकर भजन । करते हैं वह पार्थ जान ।
तभी कर्मके चक्षु हैं ज्ञान । वह हो निर्दोष ॥ ३५० ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

वैसे देखें तो हे पार्थ । यज्ञोपहार समस्त ।
मेरे बिन कहो भोक्ता । कौन है अन्य ॥ ५१ ॥

सकल यज्ञका मैं आदि । इसका मैं ही हूं अवधि ।
किंतु मुझे छोड दुर्बुद्धि । भजते देवोंको ॥ ५२ ॥

गंगाजीको गंगोदक ही जैसे । देते हैं देव पितरोद्देश्यसे ।
देते हैं मेरा ही मुझको वैसे । भावसे अन्य ॥ ५३ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ॥२५॥

इसीलिए सुन पांडुसुता । मुझे न मिलकर सर्वथा ।
दिया मनमें रख जो आस्था । वहीं गया ॥ ५४ ॥

भोक्ता मैं सब यज्ञोंका फलदायक भी स्वयं ।
न जाने तत्व जो मेरा गिरते हैं सदा वही ॥ २४ ॥

देवोंके भक्त देवोंसे पितृोंसे पितृ-पूजक ।
भूतोंके भक्त भूतोंसे मेरे जो मिलते मुझे ॥ २५ ॥

मन-वचन करणसे अर्जुन । करता है जो देवार्पण भजन ।
शरीर त्यागकर वह तत्क्षण । पाता देव-लोक ॥ ५५ ॥
अथवा पितरोंके व्रत । आचरता जिनका चित्त ।
समाप्त होतेही जिवित । पाते पितृ-लोक ॥ ५६ ॥

या क्षुद्र देवतादि जो भूत । जिनके हैं परम दैवत ।
अभिचारसे जिनका चित्त । करता उपासना ॥ ५७ ॥

उनका शरीर जब गिरता । भूतत्वको वह प्राप्त करता ।
संकल्पवशतासे है फलता । उनका कर्म ॥ ५८ ॥

मैं उनका हो जाता हूं जो मेरी निष्काम भक्ति करते हैं —

जिसने देखा मुझको ही आंखसे । जिसने सुना मुझको ही कानसे ।
मुझको ही प्रतीत किया मनसे । वाणीसे गाया ॥ ५९ ॥

अजी ! सर्वत्र सर्वांगसे । मुझे भजन पूजनसे ।
दान-पुण्य क्रिया भी उसे । मेरे ही हेतु ॥ ३६० ॥

जिन्होंने किया मेरा ही अध्ययन । अंदर बाहर मेरा ही चिंतन ।
मुझसे जुडा उनका जीवन । सर्व-भावसे ॥ ६१ ॥

धोते हैं वे सदैव अहंकार । हरि दास्यत्वका कर स्वीकार ।
उनका लोभ है एक आखर । केवल हरि-भक्ति ही ॥ ६२ ॥

जो मेरे ही काममें सकाम । मेरे ही प्रेममें सप्रेम ।
मेरे ही भ्रममें संभ्रम । जानता अन्य ॥ ६३ ॥

उनके शास्त्र मुझे ही जानते । उनके मंत्र मुझे ही जुडते ।
उनके तंत्र सदा ही करते । मेरा ही भजन ॥ ६४ ॥

आनेसे पहले वे मरण । ऐक्य हुए मुझसे अर्जुन ।
मर करके वे कौन स्थान । पाएंगे पार्थ ॥ ६५ ॥

इसीलिए जो मद्याजी हुए । मेरे ही सायुज्यमें वे आये ।
उपचारार्थ जिन्होंने दिये । अपने भाव ॥ ६६ ॥

वैभव-पूर्ण पूजासे मैं किसीका नहीं होता— मुझे क्या कम है? —

अजी ! आत्मार्पणके बिन । न भाता मुझे कुछ भिन्न ।
अन्य उपचारसे जान । मैं नहीं मिलता ॥ ६७ ॥

जाना कहता जो वह न जानता । संपन्नता दिखाना ही है न्यूनता ।
कृतार्थ हुआ मैं यह जो कहता । वह कुछ नहीं जान ॥ ६८ ॥

दान यज्ञ-तपका जो अर्जुन । मनमें धरता है अभिमान ।
यहां यह सब तृण-समान । व्यर्थ जान तू ॥ ६९ ॥

जो है ज्ञानमें संपन्न । वेदसे बढके कौन ।
अचल शेष समान । कोयी है क्या ? ॥ ३७० ॥

शैयाके नीचे शेष छिपता । वेद नेति नेति है कहता ।
जहां ज्ञान भी है पगलाता । सनकादिकका ॥ ७१ ॥

तापसमें है कहां कौन । जो शूल-पाणीके समान ।
लेता है त्यज अभिमान । पद-जल सिरपे ॥ ७२ ॥

या ऐश्वर्यमें कौन । है लक्ष्मीके समान ।
है श्रियाके समान । घरमें दासी ॥ ७३ ॥

जिसके खेलका घरौंदा एक । कहलाता अमरावति नेक ।
तब हुए खिलौने इन्द्रादिक । उनके सब ॥ ३७४ ॥

जब वह तोड़ती अनचाह खेल । होते रंक इन्द्रादिक ले दल-बल ।
जिसके कटाक्षसे होते वृक्ष फल । सुरतरु दिव्य ॥ ७५ ॥

जिनकी दासियाँ विभिन्न । हैं इतनी शक्ति सम्पन्न ।
वह लक्ष्मी देवी महान । है यहाँ दासी ॥ ७६ ॥

करती वह सर्व भावसे सेवा । छोड़के अभिमान सब पांडव ।
तब कहीं चरण धोनेका दावा । पा सकी वह ॥ ७७ ॥

छोड़कर सब बडप्पन । भूलकर व्युत्पत्ति सम्पूर्ण ।
होते हैं लघु अणु समान । पाते तब सामिप्य ॥ ७८ ॥

सहस्र करके समीप । चंद्रका भी होता है लोप ।
खद्योत करता प्रलाप । अपने प्रकाशका ॥ ७९ ॥

न चलती जहाँ लक्ष्मीकी महता । तथा शिवका तप नहीं पुरता ।
घामड़ लोगोंका भला क्या चलता । वहाँ धनंजय ॥ ८० ॥

इसीलिए तन अर्पित कर । सकल गुण कर न्योछावर ।
संपति-मद श्री-चरण पर । रख तत्पश्चात् ॥ ८१ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

मुझे निष्काम प्रेम चाहिये-प्रेमसे दिया पत्ता भी मैं सुखसे खाता हूं—

कर निःस्सीम भाव उल्लास । मेरे अर्पणका ले उद्देश्य ।
जो भी फल दिया स-संतोष । लेता हूँ मैं ॥ ८२ ॥

जब वह भक्त मुझे दिखाता । अपने हाथ मैं दोनों बढ़ाता ।
उसका डंठल भी न तोड़ता । खाता हूँ आदरसे ॥ ८३ ॥

किसीने शुद्ध भक्तिसे । दिया सुमन प्रीतिसे ।
खाता भावातिरेकसे । भूल सूंघना ॥ ८४ ॥

फल-फूल क्यों इक पात । सूखा भी हो उसका गात ।
लेता उसे मोदसे पार्थ । देते हैं जो भक्तिसे ॥ ८५ ॥

देख भरा वह सर्व-भावसे । भूखा तोषता जैसे अमृतसे ।
वैसा मैं मुखमें तोषसे उसे । डालता हूँ पार्थ ॥ ८६ ॥

अथवा ऐसा भी जब होगा । वह पात भी नहीं मिलेगा ।
पानीका बूँद एक तो होगा । उसे नहीं अकाल ॥ ८७ ॥

वह है सर्वत्र रहता । सबको सहज मिलता ।
उसीका अर्पण करता । सर्वस्व मान ॥ ८८ ॥

उसने बैकुण्ठके विशाल । बनाया मेरे लिए महल ।
कौस्तुभसे भी अति निर्मल । दिये अलंकार ॥ ८९ ॥

प्रेमसे पत्र या पुष्प फल या जल दे मुझे
भक्तिसे जो दिया सारा खाता मैं सुख-पूर्वक ॥ २६ ॥

दूधके शैयागार। क्षीराब्धिसे सुन्दर।
मेरे लिए अपार। दिये उसने॥ ३९०॥

कर्पूर चंदन अगरु। ऐसे सुगंध महामेरु।
दी दीपमाल दिनकरु। उसने मुझे॥ ९१॥

गरुड समान वाहन। सुरतरुके उपवन।
काम धेनु बहु गोदान। उसने दिये॥ ९२॥

अमृतान्नसे भी सरस। भक्तका जल-बिंदु लेश।
लेकर पाता हूँ संतोष। धनंजय मैं॥ ९३॥

कहना क्या है वह बात। जानता है तू यह पार्थ।
सुदामाके चिउडेके हित। खोली गांठ॥ ९४॥

केवल भक्ति ही मैं जानता। छोटा-मोटा वहां न कहता।
भावका भूखा मैं रहता। अतिशय अर्जुन॥ ९५॥

यहां है पत्र-पुष्प-फल-जल। भावार्पणका निमित्त केवल।
आवश्यक है मुझको निष्कल। भक्ति तत्व सदैव॥ ९६॥

इसलिए तू पांडुकुमार। अपनी बुद्धिको वशकर।
अपने हृदयमें ही फिर। स्मरकर मुझको॥ ९७॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

जो सदैव मेरा स्मरण करता है वह सदैव मुक्त ही है—

जो कुछ तू व्यापार करता। अथवा जो कुछ है भोगता।
तथा यज्ञमें तू जो यजता। नाना विधिसे॥ ९८॥

अथवा विशेष पात्रको दान। या सेवकको तू देता वेतन।
तथा व्रत-तप आदि साधन। करेगा तू॥ ९९॥

खाता जो होमता देता जो जो आचरता तप।
जो भी कुछ करें कर्म कर तू मुझ अर्पण॥ २७॥

क्रिया-जात जो संपूर्ण। होगा तुझसे अर्जुन।
करना तू यह मान। है सब मदर्थ ॥ ४०० ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

जैसे अग्निकुंडमें पड बीज। अंकुर दशा खोता है सहज।
वैसे अर्पित शुभाशुभ मुझ। न फलते कभी ॥ १ ॥

अनर्पित कर्म जब रहता। सुख दुःखमें वह फलता।
उसके भोगार्थ आना पडता। नया जन्म लेखर ॥ २ ॥

है जो मदर्पित कर्म। पोंछता मरण-जन्म।
करे जन्म-सह श्रम। अन्य सब नष्ट ॥ ३ ॥

यह है संन्यस्तकी युक्ति। सरल होती फल-प्राप्ति।
आचरणमें इसे अति। शीघ्र ही लाना ॥ ४ ॥

इससे देह-बंध नहीं घडता। सुख-दुखाब्धिका संबंध न आता।
सुखका है सुखमें ही ऐक्य होता। सजह-रूपसे ॥ ५ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

पूछेगा पार्थ तू वह कैसा। सर्व भूतमें सदा एकसा।
जहां नहीं आप पर ऐसा। भेद-भाव ॥ ६ ॥

जो सदा सर्वत्र मुझे देखते हैं वे सदेह मुक्त हैं, मद्रूप हैं—

इस भांति मुझे जानकर। तोड कर्तृत्वका अहंकार।
जीव-भावसे जो कर्मकर। भजते मुझको ॥ ७ ॥

जिससे तोडके सारे कर्म-बंध शुशाशुभ।
साधके योग-संन्यास पायेगा मुक्त हो मुझे ॥ २८ ॥

सम मैं सब भूतोंसे प्रियाप्रिय न है मुझे।
किंतु है मुझमें भक्त भक्तमें मैं बसा नित ॥ २९ ॥

दीखते स्थित हैं देहमें। किंतु वे स्थिर हैं मुझमें।
औ' मैं उनके हृदयमें। रहता संपूर्ण ॥ ८ ॥

संपूर्ण वटवृक्ष जैसे। बीजमें रहता है वैसे।
तथा रहता बीज जैसे। वट-वृक्षमें ॥ ९ ॥

वैसे हमें और उन्हें परस्पर। बाहरको नामका ही है अंतर।
किंतु अंतरमें जो वस्तु-विचार। हम हैं एक ॥ ४१० ॥

उधार लाये हुए अलंकार। चढाते हैं जैसे शरीर पर।
वैसे धारण करता शरीर। उदास भावसे ॥ ११ ॥

परिमल ले गया जब पवन। दंडीमें रहता है तब सुमन।
वैसे प्रारब्ध भोगके ही कारण। शरीर रहता है ॥ १२ ॥

अहंकार उनका संपूर्ण। हुआ है विलीन मद्भावन।
मेरे ही अंदर है अर्जुन। स्थिर रूपसे वह ॥ १३ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

प्रेम भावसे करता भजन। उसको फिर न मिलता तन।
उसकी जातिकी नहीं अर्जुन। कोई बात ॥ १४ ॥

जो जिस क्षणसे भक्त बना उसी क्षणसे मेरा बना—

देखें तो उसका पूर्व जीवन। सब ही दुराचारोंकी है खान।
किंतु उसने है अब जीवन। बेचा है भक्तिको ॥ १५ ॥

मरण समयमें जैसी है मति। रहती है जैसी, वैसी ही गति।
मिलती है यह जानके भक्ति। की है सर्व भावसे ॥ १३ ॥

पहले था रत दुराचार। सर्वोत्तम है पांडुकुमार।
महापूरमें है डूबकर। मरा नहीं ॥ १७ ॥

कोयी बडा दुराचारी भजे मुझ अनन्य हो।
मानना उसको साधु उसको शुभ निश्चयी ॥ ३० ॥

जीवन उसका इस किनारे आया। इसलिए डूबा हुआ भी व्यर्थ गया।
रहा ही ऐसा नहीं जो पाप किया। भक्तिके कारण ॥ १८ ॥

पहले था जो दुराचारी महान। किंतु पश्चात्ताप तीर्थमें कर स्नान।
मेरी शरणमें आया जो अर्जुन। सर्व भावसे ॥ १९ ॥

उसका है अब पवित्र कुल। अभिजात्य तथा अति निर्मल।
जन्मका उसको मिला है फल। भक्तिके कारण ॥ ४२० ॥

उसने किया सब अध्ययन। तथा समस्त तप अनुष्ठान।
अष्टांग-योग भी सुन अर्जुन। सिद्ध उसको ॥ २१ ॥

रहने दे अब यह पार्थ। जिसकी चाह है "मैं" सतत।
कर्म-बंधनसे वह मुक्त। सर्वदा ही ॥ २२ ॥

मन-बुद्धि सब एक गांठमें। बांध कर दी वह पिटारीमें।
वह पिटारी मेरे स्वरूपमें। रख दी धनंजय ॥ २३ ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

स-समय वह मद्रूप होगा। चितमें तेरे यह भाव होगा।
सदैव जो अमृतमें रहेगा। मरेगा कैसे ॥ २४ ॥

तभी रात्री कहलाती है। सूर्य जब नहीं होता है।
भद्भक्ति बिन जो होता है। वह सब पाप ॥ २५ ॥

इसलिए उसका चित। रहता मुझमें सतत।
तभी होता वह निश्चित। मद्रूप तत्वतः ॥ २६ ॥

जैसे दीपसे दीप है जलता। वहां पहला कौन न जानता।
वैसे सदैव जो मुझे भजता। होता वह मैं ही ॥ २७ ॥

फिर मेरी ही नित्य-शांति। उसकी दशा वही कांति।
जीवित रहता स-भक्ति। मेरे ही जीवसे ॥ २८ ॥

होगा जो शीघ्र धर्मात्मा शांति शाश्वत पाकर।
जान निश्चित तू मेरे भक्तका नाश है नहीं ॥ ३१ ॥

केवल शास्त्रीय भक्तिसे मेरी प्राप्ति नहीं होती—

कहूँ कितना पुनः पुन। वही वही फिर अर्जुन।
नहीं होगी भक्तिके बिन। मेरी प्राप्ति ॥ २९ ॥

व्यर्थ है कुल अभिमान। व्यर्थ शास्त्राध्ययनभान।
व्यर्थ है श्रेष्ठेताका मान। लोभ-मात्र ॥ ४३० ॥

व्यर्थ है रूप अभिमान। व्यर्थ है तारुण्य यौवन।
एक मेरे भावके बिन। व्यर्थका बतंगड ॥ ३१ ॥

भुट्टे लगे बहु धान विहीन। बसे नगर, पर हैं वीरान।
उसका है कहो क्या प्रयोजन। वैसे ही पार्थ ॥ ३२ ॥

सरोवर बडा नीर विहीन। तथा दुखीसे दुखिका मिलन।
बांझ लताका बहार सुमन। खिला वैसा ॥ ३३ ॥

वैसा मानो सकल वैभव। अथवा कुल-जाति-गौरव।
वैसा ही देह स-अवयव। किंतु नहीं प्राण ॥ ३४ ॥

वैसी मेरी भक्ति बिन। व्यर्थ है सारा जीवन।
अजी! पृथ्विपे पाषाण। रहते वैसे ॥ ३५ ॥

हिंवारेका आच्छादन घन। त्यज देते हैं जैसे सज्जन।
पुण्य करता अवहेलन। वैसे अभक्तको ॥ ३६ ॥

नीममें निंवौरिका बहार आया। जिससे कौंवोंका ही सुकाल भया।
वैसे भक्ति-हीनको ऐश्वर्य आया। दोष बढानेको ॥ ३७ ॥

परौसा खप्परमें षड्सान्न। रखा चौराहे पर अपरान्ह।
खायेगा उसको केवल श्वान। वैसे ही पार्थ ॥ ३८ ॥

वैसे भक्ति-हीनका जीवन। स्वप्नमें भी सुकृति-विहीन।
संसार दुःखका आव्हान। केवल-मात्र ॥ ३९ ॥

व्यर्थ है कुलकी उत्तमता। अन्त्यजका भी तन मिलता।
पशुका शरीर भी मिलता। शरीरके नामसे ॥ ४४० ॥

पकडा मगरने गजेन्द्रको। उसने स्मरण किया मुझको।
व्यर्थ किया अपनी पशुताको। पाकर मद्रूप ॥ ४१ ॥

री भक्ति में कुल जाति आदिका बंधन नहीं—मुझे प्रेम चाहिये—

आगे लेनेमें लज्जा नाम। जो अधर्मोंमें अधमतम।
ऐसी योनिमें जिन्होंने जन्म। लिया है अर्जुन॥ ४२॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्॥ ३२॥

जो हैं पापयोनिके मूढ। जैसे पत्थर सम जड।
किंतु है मुझमें वे दृढ। सर्व भावसे॥ ४३॥

वाणीमें जिनके मेरे आलाप। नयन भोगते मेरे ही रूप।
मनमें सतत मेरा संकल्प। भरे रहते हैं॥ ४४॥

मेरी कीर्ति-कथाके बिन। न करते अन्य श्रवण।
जिनके सर्वांग-भूषण। मेरी सेवा॥ ४५॥

ज्ञानका विषय वे न जानते। केवल मुझ एकको जानते।
उन्हें ऐसा लाभ मिला तो जीते। नहीं तो मरण॥ ४६॥

ऐसा हुआ जो सम्पूर्ण। सर्व-भाव कर अर्पण।
जीवनका बना जीवन। मैं ही एक॥ ४७॥

पाप योनिमें हुआ जनन। सुनके भी न हुआ पठन।
तुलनामें उनका वजन। मुझसे कम नहीं॥ ४८॥

भक्ति संपन्नताके कारण। देव बने राक्षसोंसे हीन।
मेरा नरसिंहका भूषण। उसकी महिमा॥ ४९॥

केया प्रह्लादका अंगीकार। मेरे स्थानमें पांडुकुमार।
ह्लाद कथामें साक्षात्कार। होता मेरा ही॥ ४५०॥

सका है दैत्य-कुल आखर। इद्रको नहीं वह अधिकार।
हां है भक्ति महिमा अपार। कुल-जातिकी नहीं॥ ५१॥

रके आसरा मेरा भोले स्त्री-वैश्य-शूद्र भी।
ा पाप-योनिके जीव पाते हैं सुख शाश्वत॥ ३२॥

राजाज्ञाके होते चार अक्षर। वह भी चामके टुकडे पर।
वह टुकडा देता है अपार। वस्तु-मात्र॥ ५२॥

आज्ञाके उन अक्षरके बिन। स्वर्ण-रजत भी प्रमाण-हीन।
उस अक्षर चामके कारण। मिलते सर्व वस्तु॥ ५३॥

उत्तमता तो तभी है। यथा सर्वज्ञता भी है।
मन बुद्धि भारता है। जब मेरे प्रेमसे॥ ५४॥

इसलिए कुल जाति वर्ण। ये सब ही हैं बिना कारण।
मुझमें हैं अनन्य शरण। सार्थक एक॥ ५५॥

मुझमें मिलनेके बाद कोयी भिन्नता नहीं रहती—

जब किसी न किसी कारण। मन होता मद्रूपमें लीन।
तब होता है पुर्णरूपेण। जाति कुलादि व्यर्थ॥ ५३॥

तब तक नाले कहलाते। गंगामें जब नहीं मिलते।
फिर मात्र गंगाजल होते। गंगारूप हो॥ ५७॥

जैसे खदिर चंदनादि काष्ट। तब तक भिन्न रहते स्पष्ट।
यज्ञाहुति देने पर है नष्ट। भिन्नता सारी॥ ५८॥

वैसे हैं क्षत्रिय वैश्य स्त्रियां। शूद्र अन्त्यजादि कहलाया।
मुझमें विलय न हो गया। तब तक ही सब॥ ५९॥

जाति कुल व्यक्ति फिर बनता शून्य। होता है जब चित्त मुझमें अनन्य।
घुलते जैसे लवण कण सामान्य। सागरमें वैसे॥ ४६०॥

तब तक नदी नदोंका नाम रहता। वैसे ही पूर्व पश्चिम प्रवाह रहता।
किंतु जब सागरमें मिल जाता। सब होता एकरूप॥ ६१॥

लेकर कोयी न कोयी निमित्त। होता लय जब मुझमें चित्त।
फिर होता है उसमें निश्चित। मद्रूप ऐसे॥ ६२॥

अव्यभिचारी शत्रुतासे भी मेरी प्राप्ति होती है —

तोडने हेतु पडा पारस पर। लोहेका घन उसे स्पर्श कर।
होगा निश्चित ही सुवर्ण सत्वर। सहज-भावसे॥ ६३॥

व्रजांगनाएं प्रेमवश होकर। मनमें स्मरण कर निरन्तर।
पार्थ वे सब मुझसे मिलकर। मद्रूप हो गयीं ॥ ३४ ॥

वैसे ही भयके करण। निशिदिन कर चिंतन।
अखंड वैर धर मन। कंस चेद्यादि ॥ ६५ ॥

ात्वसे भी भक्त मुझे मिलते हैं—

आप्तत्वसे हैं पांडव। संगसे सब यादव।
ममत्वसे वसुदेव। तथा अन्य भी सब ॥ ६६ ॥

नारद ध्रुव अक्रूर। शुक और सनत्कुमार।
भक्तिसे मैं धनुर्धर। हुवा प्राप्त ॥ ६७ ॥

व्रजांगनाओंको कामसे। कंसको भय संभ्रमसे।
घातुक मनके धर्मसे। शिशुपालादिकको ॥ ६८ ॥

सब पंथोंका एक स्थान। होना है मुझमें विलीन।
सभक्ति विषय भंजन। या विराग वैसे ॥ ६९ ॥

इसलिए हे अर्जुन। होने मुझमें विलीन।
उपायोंका जो बंधन। नहीं है कोई ॥ ४७० ॥

तथा किसी कुलमें होना जनन। करें प्रेम-वैर अथवा भजन।
किंतु भक्त या शत्रु होना अर्जुन। एकमात्र मेरा ही ॥ ७१ ॥

किसी रूपमें सतत। होना है मुझमें रत।
मद्रूप होना निश्चित। स्वाभाविक ॥ ७२ ॥

वैसे ही पाप योनी भी अर्जुन। क्षत्रिय वैश्य शूद्र औ' अंगना।
भजकर मुझे मेरे सदन। पायेंगे ही ॥ ७३ ॥

वर्णमें हैं जो छत्र चामर। स्वर्ग है जिनका अग्रहार।
मंत्र है जिनका मातृघर। वे हैं ब्राह्मण ॥ ७४ ॥

बसता जहाँ अखंड याग। तथा हैं जो वेदोंका वज्रांग।
जिनकी दृष्टिका है उत्संग। बढाता मांगल्य ॥ ७५ ॥

जो हैं पृथ्वी तलके देव। तपावतार जो सवयव।
सकल तीर्थोंका जो है दैव। उदित हुआ है ॥ ७६ ॥

जिनकी आस्था है शीतल। बढाती सत्कर्मकी वेल।
सत्य है जीवित केवल। उनके संकल्पसे ॥ ७७ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

सबके लिए मेरा द्वार खुला है—

आशिर्वादसे उनके। बने आयुष्य अग्निके।
दिया सिंधुने उनके। प्रेमसे नीर ॥ ७८ ॥

मैंने किया लक्ष्मीको कुछ दूर। लिया हाथ कौस्तुभ उठाकर।
बढाया हृदय आगेकी ओर। चरण रजके लिए ॥ ७९ ॥

अब तक वह पद मुद्रा। हृदयपे धरी है सु-भद्र।
अपने ही ऐश्वर्य समुद्र। रक्षा हेतु ॥ ४८० ॥

जिनका क्रोध है अर्जुन। कालाग्निका वसतिस्थान।
उनका प्रसाद महान। देता सर्व-सिद्धि ॥ ८१ ॥

ऐसे पुण्य-पूज्य जो ब्राह्मण। मुझमें होते अति निपुण।
होके नित मत्परायण। यह क्या कहना ? ॥ ८२ ॥

चंदन-वृक्षके समीप होनेसे। तथा उनके पवनके स्पर्शसे।
निर्जीव नीम भी हुआ योग्यतासे। चढा प्रभु मस्तक पर ॥ ८३ ॥

फिर चंदन वहां न पहुंचेगा। इस बातको मन कैसे मानेगा।
अथवा चंदन वहां पहुंचेगा। यह कहना पडे क्यों ? ॥ ८४ ॥

शीतलताकी अपेक्षा कर। महादेवने मस्तक पर।
धारण किया जो निरंतर। अर्ध चन्द्र ही ॥ ८५ ॥

जहां शीतलतामें अप्रतिम। सुवासमें चंद्रसे भी उत्तम।
ऐसा चंदन क्यों न सर्वोत्तम। लगायें सर्वांगपे ॥ ८६ ॥

वहां ब्रह्मर्षि राजर्षि इनकी बात क्या रही।
भज तू मुझ आया है दुखी नश्वर लोकमें ॥ ३३ ॥

रथ्योदक हो जहां गंगा-शरण। करते हैं सागरोदक वरण।
वहां जान्हवीकी समरस पूर्ण। अन्य गति कैसी॥ ८७॥

इसलिए राजऋषि हो या ब्राह्मण। उनकी गति मति मैं हीं हूँ शरण।
उनका त्रिशुद्धि पूर्वक है निर्वाण। स्थिति-गति मैं हूँ॥ ८८॥

जीर्ण आयुष्य नौकामें बैठकर मूर्खता

बैठकरके शत-जर्जर नावमें। होता कैसे कहो निश्चिंत मनमें।
या विवस्त्र हो जीना कैसे रणमें। शत संवत्सर॥ ८९॥

पडता जहाँ पाषाण शरीर पर। न रखें ढाल कहो बीचमें क्योंकर।
रहे कैसे उदास हो रोग-जर्जर। शरीर औषधसे॥ ४९०॥

भडकी जहां चहूं ओर आग। न जाय कैसे बचाकर भाग।
कष्टमें नित न हो सानुराग। मुझे न भजे कैसे॥ ९१॥

नहीं लगे मेरे भजनमें। ऐसा क्या सामर्थ्य है जनमें।
विश्वास घरमें या भोगमें। है उनके॥ ९२॥

या विद्याका या आयुका। ऐसा कौनसा प्राणियोंका।
है मुझे न भजनेका। कहो सुखाधार॥ ९३॥

मिलता है जितना भोग्य-जात। वह है केवल शरीर हित।
ओ' शरीर रहता है सतत। मृत्युके मुखमें॥ ९४॥

अजी! दुःखका माल आयात होता। हाटमें मृत्युके तौलसे तुलता।
उस मृत्युलोकमें आना पडता। अन्तिम हाटमें॥ ९५॥

अब सुखका जीवित। कैसे मिले पांडुसुत।
फूंककर राख जोत। जलेगी कैसे॥ ९६॥

अजी! विषकंद पीसकर। उसका रस निचोडकर।
उसे नाम अमृत देकर। अमर हो कैसे॥ ९७॥

ऐसे हैं विषयोंका सुख। केवल है परम दुःख।
जेवन करते हैं मूर्ख। जीव भावसे॥ ९८॥

अथवा काटकर अपना शिर। करना पैर तलके उपचार।
ऐसा है मृत्यु लोकका व्यवहार। चला है सतत ॥ ९९ ॥

मृत्युलोकमें कहानी सुखकी। श्रवण करना सभी व्यथाकी।
जहाँ शैया ही अग्नि-स्फुलिंगकी। सुख-निद्रा कैसी ॥ ५०० ॥

क्षयरोगी होता चन्द्र जिस लोकका। अस्तार्थ उदय होता रवि जहांका।
दुःख आता है आवरणमें सुखका। छलनेके लिए ही ॥ १ ॥

जहां फूटते ही मांगल्यका अंकुर। पडते अमंगल कीट उसपर।
पडता जहां मृत्यु पाश भयंकर। गर्भमें ही ॥ २ ॥

मिलना नहीं जो उसका चिंतन। मिले तो करते गंधर्व हरण।
जाता उसका न होता आकलन। कहां और कैसे ॥ ३ ॥

अजी! खोल जब सब ही पथ। लौटा पदचिह्न न देख पार्थ।
मिलता सब मृतकोंका कथित। पुराणोंमें जहाँ ॥ ४ ॥

यहाँकी अनित्यताकी महती। ब्रह्मकी आयुतक पहुँचती।
नश्वरताकी है कितनी व्याप्ति। स्वस्थ चित्त सुन तू ॥ ५ ॥

सुन ऐसे लोगोंका बर्ताव। जबसे जन्म लिये ये जीव।
उनकी निश्चिंतता वैभव। कौतुकास्पद ॥ ६ ॥

जहां होता इह परका लाभ। वहां धरते कवडीका लोभ।
तथा होता जहां विनाश सब। खरचते हैं करोडों ॥ ७ ॥

उलझता जो विषय भोगमें। सुखी कहलाता इस लोकमें।
गडा जाता है जो महा-लोभमें। वह है महा-ज्ञानी ॥ ८ ॥

जिसका रहा अल्प जीवन। हुआ सब बल-बुद्धि जीर्ण।
उसके पकडते चरण। वृद्ध कहकर ॥ ९ ॥

जैसा होता बालकका विकास। माता-पिता नाचते स-उल्लास।
अंदरसे होता जीवन ह्रास। इसका नहीं खेद ॥ ५१० ॥

जो जन्मके दिवस दिवस-से। चलता मृत्यु दिशामें गतिसे।
करते शुभोत्सव उल्लाससे। वृद्धि-दिवस मानकर ॥ ११ ॥

अजी ! मृत्यु यह शब्द न सहते । मरने पर जो रुदन करते ।
तथा आयुष्य व्यर्थ ही खोते । मूर्खताओंमें ॥ १२ ॥

निगलता है सांप मेंढकको । मेंढक जीभ चाटता है कीटकको ।
औ' प्राणि किस लोभसे किसको । बढाता तृष्णा ॥ १३ ॥

अजी ! यह है सब अनिष्ट । मृत्यु लोकका सब उलट ।
यहां अर्जुन तू अवचट । जन्म लिया है ॥ १४ ॥

तू इससे दूर रह कर मेरी भक्ति कर —

तू हो दूर इससे अलग । मेरी भक्तिके पथमें लग ।
पायेगा तू जिससे अव्यंग । निजधाम मेरा ॥ १५ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

मनको तू मद्रूप कर । मेरी भक्तिमें डूब कर ।
सर्वत्र कर नमस्कार । एक मुझको ॥ १६ ॥

मेरी भक्ति करनेका अर्थ सब कुछ मुझे समर्पण करना —

कर तू सतत मेरा अनुसंधान । उससे होगा संकल्प-बीज दहन ।
इसको कहते हैं भगवद्भजन । पांडुकुमार ॥ १७ ॥

होगा तू इससे मम-योग संपन्न । तब रहेगा मेरे स्वरूपमें लीन ।
यह मेरे अंतःकरणका वचन । कहा तुमसे ॥ १८ ॥

सबसे छिपाई बात । हुई अब तुझे प्राप्त ।
उससे हो तू सुखी शाश्वत । सदैव रहेगा ॥ १९ ॥

ऐसा श्याम-परब्रह्म । भक्त-वत्सल कल्पद्रुम ।
बोला है जो आत्माराम । कहता संजय ॥ ५२० ॥

प्रेमसे ध्यानसे नित्य भज तू पूज तू मुझे ।
ऐसे ही मिल आत्मामें मुझमें लीन होकर ॥ ३४ ॥

कृष्णकी बात धृतराष्ट्रसे कहते समय संजयकी मनस्थिति—

अजी ! श्रवण किया क्या अपने। पूछा जब राजासे संजयने।
मौन होके सुन लिया बूढेने। पानीमें पडे भैंसेकासा ॥ २१ ॥

तब डुला संजय सहसा। मानो आज अमृत बरसा।
किंतु होकर भी न होनासा। रहा यह बूढा ॥ २२ ॥

फिर भी यह हमारा दातार। मानके रहा स्वस्थ-स-आदर।
इनका स्वभाव है मानकर। संजय मनमें ॥ २३ ॥

करके श्रीमुनि-व्यासने निमित्त। राजको सुनाना युद्धका वृत्तांत।
किया मानो मेरा उद्धार निश्चित। हर्षाया संजय ॥ २४ ॥

द्रढ कर अपना सायास। बोला वह इतना मानस।
पुलक हो आये स-उल्लास। अष्ट-सिद्धि-भाव ॥ २५ ॥

भक्तिके अष्ट सिद्धि भाव —

चकित हो भर आया है चित्त। लूली पडी वाचा हो प्रमुदित।
अपाद मस्तक है कंचुकित। हुआ रोमांचसे ॥ २६ ॥

भये अर्धोन्मिलित नयन। वरस पडे आनंद घन।
हुआ सकंप सारा बदन। अंतर्मुख भावसे ॥ २७ ॥

अजी ! संपूर्ण रोममूल। खिले स्वेदकण निर्मल।
जैसे मोतिकी मणिमाल। बनी कंचुकिसी ॥ २८ ॥

महा सुखके अति-रससे ऐसा। मिटने लगी जैसी जीवदशा।
वहां श्री व्यासाज्ञाका भान कैसा। रहेगा भला ॥ २९ ॥

इतनेमें कृष्णार्जुनके वचन। गूंजने लगे श्रवणोंमें महान।
लौटा लाया वह शरीरका भान। संजयका तब ॥ ५३० ॥

ध्यान देनसे आनंद-सिंहासन पर चढते ?—

पोंछा तब नयन जल। तथा स्वेद बिंदु निर्मल।
मुखसे निकले ये बोल। श्रीमान् सुनिये जी ॥ ६१ ॥

चढेगे अब कृष्णार्जुन वाक्य बीज । सात्विक भाव-युत चितमें सहज ।
खिलेगा प्रेम-प्रमेयका बाग आज । श्रोताओंके लिए ॥ ३२ ॥

अजी ! देना अब अवधान । चढना आनंद सिंहासन ।
दैवने डाली माला श्रवण- । इंद्रियको आज ॥ ३३ ॥

विभूतियोंका अब महाज्ञान । देगा अर्जुनको सिद्ध श्रीकृष्ण ।
सुनिये ज्ञानदेवका कथन । जो है निवृत्तिका दास ॥ ३४ ॥

गीता श्लोक ३४

ज्ञानेश्वरी ओवी ५३४.

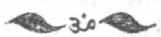

१०

विभूति—चिंतनयोग

श्री गुरु निवृत्तिनाथका आध्यात्मिक स्वरूप

विशदबोधविदग्ध । विद्यारविंद-प्रबोध ।
पराप्रमेय-प्रमद- । विलासिया नमो ॥ १ ॥

संसारतमका तू सूर्य । अप्रतिम परम-वीर्य ।
नमो तरुण-तर-तूर्य । लालनलीला ॥ २ ॥

जगदखिल-पालन । मंगलमणि-निधान ।
स्वजन-वन-चंदन । नमो आराध्यलिंग ॥ ३ ॥

चतुर-चित-चकोरचंद्र । आत्मानुभव-महानरेंद्र ।
श्रुतिगुणगण तू समुद्र । मन्मथ मन्मथ नमो ॥ ४ ॥

सुभाव-भजन-भाजन । तू भवेभ-कुंभ-भंजन ।
विश्व-उद्भवका भवन । नमो श्री गुरुदेव ॥ ५ ॥

श्री गुरुका सामर्थ्य—

तेरा अनुग्रह श्री गणेश । देता है जो अपना स्वरस ।
तब सरस्वतीमें प्रवेश । होता है शिशुका ॥ ६ ॥

आश्वासन उदार देवका । जलाता दीप नव-रसका ।
थाह लगता तब वाणीका । अनायास ॥ ७ ॥

रा । वागीश्वर । कर गुरुका अंगीकार ।
र्धा से कर । जीतता वह ॥ ८ ॥

डती ी जिस पर । रखता तू सिरपे पद्मकर ।
रता होने पर । समानता शिवसे ॥ ९ ॥

गुरुकनीय महिमा—

नसकीका यह करना । वाचालतासे वर्णन क्या करना ।
र्यको टन लगाना । चमकाने को ॥ १० ॥

ल्पतरु कैसे बहार । क्षीरसागरका कैसा पाहुनाचार ।
न्य की अपेक्षा कर्पूर । सुवासित करनेमें ॥ ११ ॥

दिनको उबटन । अमृतका कैसे करें पक्वान ।
से वपे भवन । कहो मुझसे ॥ १२ ॥

से श्रीमहिमान । आकलनका क्या है साधन ।
ह जाया नमन । मैंने चुपचाप ॥ १३ ॥

द्धिकी पर समर्थ । श्री गुरु-वर्णन करना यथार्थ ।
ति प चढाना है सार्थ । अभ्रकका वैसे ॥ १४ ॥

र्ण पा पानी चढाना । वैसा है श्रीगुरुका स्तवन गाना ।
मौन पे नत होना । यही भला है ॥ १५ ॥

की या श्री गुरु-कृपाका फल है—

जी ! रम उदार । कृपा-दृष्टी रखते हम पर ।
भी कृसंगम पर । प्रयाग बने हम ॥ १६ ॥

ा जट् भर । बना श्रीरसागर कटोर ।
मुख : शंकर । उपमन्युके वैसे ॥ १७ ॥

वा ऊँनायक । रिझाया ध्रुव जब स-कौतुक ।
ाया मातुक । समझाके वैसे ॥ १८ ॥

ाविद्याराजा महान । सकल शास्त्रका वसति स्थान ।
वियोंमेंगीता गान । संभव किय ॥ १९ ॥

शब्दारण्यमें भटक दिन-रात। न सुनी अक्षर फलनेकी बात।
वाचा-धनी स्वयं कल्पलता सत-। विवेककी यहा ॥ २० ॥

देहात्म-बुद्धि भी जो निरंतर। बनी थी मंदिर आनंदका भंडार।
मनने किया गीतार्थका सागर। शयन सुखसे ॥ २१ ॥

श्री गुरुकी लीला अपार। करूं कैसे वर्णन मैं पामर।
फिर भी गाया ढीठ बनकर। सहन कीजिये यह ॥ २२ ॥

आपका ही कृपा-प्रसाद। बना भगवद्गीता प्रबंध।
पूर्वार्ध गाया स-विनोद। ओवियोंमें ॥ २३ ॥

सूत्र रूपसे पिछले नौ अध्यायोंका उपसंहार —

पहलेमें अर्जुनका विषाद। दूसरेमें गाया योग विशुद्ध।
किंतु सांख्य तथा ज्ञानका भेद। दिखा कर ॥ २४ ॥

तीसरेमें केवल कर्म प्रतिष्ठित। चौथेमें वही ज्ञान-सह प्रकटित।
पांचवेमें अष्टांग-योगका गुपित। कहा वैसे ही ॥ २५ ॥

छटेमें कहा वही प्रकट। आसानादि-सह कर स्पष्ट।
जीवात्म-भावैक्य जो है श्रेष्ठ। होता जिससे ॥ २६ ॥

वैसी ही वह योग-स्थिति। योग-भ्रष्टोंकी है क्या गति।
वह पूर्णस-उपपत्ति। सुना दी है ॥ २७ ॥

उस पर है जो सप्तम। प्रकृति-रूप उपक्रम।
भक्त चार पुरुषोत्तम। होते हैं कैसे ॥ २८ ॥

फिर सप्तमीकी प्रश्न सिद्धि। कह करके प्रयाण-सिद्धि।
एवं सकल वाक्य अवधि। अष्टमाध्यायमें ॥ २९ ॥

अगणित है जो शब्द-ब्रह्म। उसमें है जो अर्थ परम।
महा-भारतमें अनुपम। एक लक्षमें मिलता ॥ ३० ॥

फिर अठारह पर्व भारतमें। मिलता वह कृष्णार्जुन उक्तिमें।
तथा अभिप्राय जो सप्तशतिमें। नौवेमें मिलता ॥ ३१ ॥

तभी नवमका अभिप्राय। पूर्ण हुआ करनेमें भय।
प्रतीत कर नवमाध्याय। हुआ किस गर्वसे ॥ ३२ ॥